रचना का सामाजिक आधार

डॉ० सूरज पालीवाल
हिन्दी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर



साहित्यागार, जयपुर



राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर के
आर्थिक सहयोग से प्रकाशित



प्रकाशक	साहित्यागार एस एम.एस. हाईवे जयपुर–302 003
प्रथम संस्करण	1990
सर्वाधिकार	लेखक
मूल्य	साठ रुपये मात्र
मुद्रक	अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स, जौहरी बाजार जयपुर।

पूज्य पिताजी के लिये
सादर

भूमिका

रचना का स्रोत सामाजिक जीवन है। महान् रचना सामाजिक कार्य-कलापो से निरपेक्ष रखकर नही की जा सकती। लेखक का यह दायित्व है कि वह अपने समय के यथार्थ की गहरी छानबीन कर उसे कलात्मक रूप मे प्रस्तुत करे। वे बहस अब निरर्थक हो गई है, जिनमे रचना के सौदर्य-पक्ष को ही प्रसिद्धि का कारण मानकर रचना की सामाजिक उपादेयता और उसके अनत लक्ष्य को मोथरा किया जाता था।

परिवर्तित जीवन को रचना अपना विषय बनाती है। वह जीवन के प्रति न निराशा जगाती है और न उसको स्वर्णिम मान इठलाती ही है। सघर्षो मे ही वह जीवन की सार्थकता तलाशती है, उसे उपयोगी बनाती है। मनुष्य की अहमूजन्य कु ठित भावनाओ को विस्तृत पटल पर खोलकर वह उसे सामाजिकता प्रदान करती है। रचना के इसी पक्ष को इस पुस्तक मे सग्रहीत चौदह निबन्ध पूरी तरह प्रस्तुत करते है। रचना, रचनाकार और आलोचक के परस्पर सम्बन्धो, उनके उत्तरदायित्यो का निर्धारण तथा आज के वातावरण मे उनकी सार्थकता की तलाश करने का प्रयास किया गया है। हिन्दी मे रचना का सामाजिक आधार और आलोचना को सामाजिक कसौटी देने वाले प्रेमचद और आचाय रामचद्र शुक्ल के बिना यह पुस्तक अधूरी रहती, इसलिये इन पुरोधा साहित्यकारो के महत्व को उनकी यथार्थ-जीवन की सूक्ष्म पकड के सदर्भ मे परखा गया है।

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर द्वारा आयोजित उपनिषदो मे पत्र-वाचन एव पत्रिकाओ मे प्रकाशन के लिये लिखे गये ये निबन्ध मूल रूप मे सामाजिक सरोकारो की प्रतिष्ठा करते है। अपने उद्देश्य म यह पुस्तक कितनी सफल होगी, इसका निर्णय सुधी पाठक ही करगे।

गुरुवर प्रो० कुवरपाल सिंह ने साहित्य को देखने–समझने की जो वैज्ञानिक दृष्टि दी है, उसी पर चलकर यहां तक पहुंचा हूं। उनकी अनवरत् कृपा के लिये कृतज्ञ हू। कथाकार डॉ० हेतु भारद्वाज से निरंतर ऊर्जा पाता रहा हू, उनके सहज व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धानत् हूं।

इन निबन्धों को पुस्तक के रूप मे देखने या स्वप्न पत्नी शोभा ने पहली बार देखा। अपने स्वप्न को साकार करने मे उन्होंने जितना श्रम किया, उसके लिये कुछ कहना औपचारिकता ही होगी।

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर के आर्थिक सहयोग के लिये हार्दिक आभार प्रगट करता हूं। सुरुचि सम्पन्न और तत्पर प्रकाशन के लिये भाई श्री रमेश वर्मा हार्दिक साधुवाद के अधिकारी हैं।

गणतन्त्र दिवस, 1990
हिन्दी विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर।

सूरज पालीवाल

अनुक्रम

रचना और आलोचना का अंतः सम्बन्ध

जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है रचना पहले है और आलोचना बाद मे। रचना का आलोचना से क्या सम्बन्ध है और दोनो एक-दूसरे से कहाँ और किस प्रकार जुड़ी हैं, इसका विवेचन करना, रचना और आलोचना कर्म से जुडे ससार को देखना है—सम्पूर्णता में। लेकिन यह सम्वन्ध जितना साफ दिखता है, उतना है नही। जीवन की जिन बारीक उलझनो को रचना सुलझाती है, आलोचना उन्हे और स्पष्ट करती है। जीवन-यथार्थ को मानव-मर्म से देखने और अनुभव करने का काम रचना करती है तो आलोचना जीवन-यथार्थ के मानव-मर्म को बौद्धिक-दृष्टि से तलाशती है। इस प्रकार यह सम्बन्ध मानवीय सवेदना और जीवन-यथार्थ के ताने-बाने से बुने रहते हैं।

रचना जीवन की व्याख्या है तो आलोचना रचना मे रचे जीवन और जीवन-यथार्थ की व्याख्या है। रचनाकार और आलोचक दोनो का ऊर्जा-स्रोत मानव जीवन ही है। मानव जीवन के यथार्थ से लेखक की जितनी निकटता होगी उसकी पकड उतनी ही गहरी होगी। जीवन अनेक रग रूपो वाला है, इन रगो की पहचान और रूपो के प्रति आस्था ही लेखक को सजीवता प्रदान करती है। उसके जगत के अ तर-बाह्य पक्षो के अनुभव जितने तीव्र होगे, रचना उतनी ही सजीव होगी। आलोचक इस सजीवता से साक्षात्कार कर उसके यथार्थ के स्तरो से पाठक को परिचित कराता है। पहली बात तो यह कि रचना मे सृजित यथार्थ इकहरा नही होता। उसकी कई पर्तें होती है। आलोचक इन पर्तो को खोलकर उनके भीतर छिपी मानव-सवेदनाओ और मानवीय मर्म को सामने लाता है। दूसरा यह कि रचनाकार के लिए जितनी शक्ति उसके अनुभव देते है, आलोचक के लिये भी यह उतना ही जरूरी

है। आलोचक के पास यदि अनुभव नहीं होंगे, जीवन के मार्मिक प्रसंगों से उसका परिचय नही होगा, मनुष्य की कुटिलताओं, क्षुद्रताओं, ओछाइयों और कमीनगियो के बीच मानवीय सम्बन्धों की टूटन की पहचान नही होगी, मनुष्य और मनुष्यता के प्रति आस्था नही होगी, तो वह रचना में छिपे मर्म तक नही पहुंच सकता। इसलिये आलोचक के लिये यह आवश्यक है कि वह जीवन यथार्थ से पूरी आस्था के साथ जुड़े।

रचनाकार के दायित्व-बोध की अपेक्षा आलोचक की भूमिका अधिक जटिल एवं खतरों मे भरी भी है। रचनाकार-रचनाकर्म के पश्चात् मुक्त हो सकता है लेकिन आलोचना हमेशा उससे जुड़ी रहती है। आलोचक के पास रचना के मर्म तक पहुँचने की दृष्टि तो होनी ही चाहिये, साथ ही वह विवेक-सम्मत, तटस्थ और तुलनात्मक दृष्टि भी जरूरी है जिससे वह रचना के भीतर सृजित जीवन यथार्थ को समझकर उसकी प्रगतिशील अथवा प्रतिगामी, सामाजिक सरोकार एवं कलात्मक पक्षों से सम्बन्धित भूमिका का उद्घाटन कर सके। आलोचना कर्म उस बारीक छलनी की भूमिका के समान है जो रचना के भीतर छिपे मार्मिक जीवन-प्रसंगों और लेखकीय-मंतव्यों को उभार कर पाठक के सामने उन्हें खोलकर रखता है। मर्मी आलोचना से रचना जीवनदान ही नही पाती, अपनी भीतरी प्रखरता से पाठक को अभिभूत भी करती है। दूसरी ओर सतही आलोचना रचना के तेज को तो कम करती ही है, उसे इतिहास के गर्त में डुबो भी सकती है। आचार्य शुक्ल की कबीर की आलोचना से कबीर की महत्ता कुछ समय ओझल हो गई थी, लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी मर्मी आलोचना से कबीर को प्रासंगिक ही नहीं बल्कि श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया। रचना के लिये उत्कृष्ट आलोचना जरूरी है तो आलोचना के लिये श्रेष्ठ एवं कलात्मक रचनायें भी जरूरी हैं, तभी दोनों का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

रचना और आलोचना के अंतः सम्बन्धों को परखते हुये यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि दोनों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हों। यदि रचनाकार को यह लगने लगे कि आलोचक उसका विरोधी है और मन में यह शंका घर कर जाये कि आलोचक न उसके प्रति और न उसकी रचना के प्रति कोई न्याय कर पायेगा तो यह घातक स्थिति ही होगी।

हिन्दी मे ही नही अपितु विश्व-साहित्य मे यह स्थिति बनी हुई है कि रचनाकार आलोचक को द्वितीय श्रेणी का मानते हैं और यह पहले से ही मानकर चलते है कि आलोचक के पास वह दृष्टि नही है जिससे वह रचना का सही मूल्याकन कर सके। इसके मूल मे तथाकथित आलोचकों द्वारा किये गये अविश्वसनीय आलोचना कर्म भी है। छोटे-मोटे समीक्षक दार्शनिक मुद्रा अपनाकर आलोचक बन बैठते है। उनकी दृष्टि मे रचना मे निहित जीवन नही बल्कि अपने सिद्धात प्रमुख होते है। ऐसी स्थिति मे आलोचना निश्चित ही द्वितीय कोटि का कर्म बन जाती है। लेकिन इस प्रकार की स्थिति को अ तिम नही मान लेना चाहिये। हम मानते हैं कि इस प्रकार की आलोचना रचना के साथ न्याय नही कर सकती। उदाहरण के लिए आचार्य शुक्ल द्वारा की गई छायावाद की एकपक्षीय आलोचना ने छायावादी कवियो को अपनी रचना के मर्म और लेखकीय निष्ठा को स्पष्ट करने के लिये स्वय आलोचना कर्म अपनाना पडा। इस प्रकार की स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब रचनाकार और आलोचक एक-दूसरे से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित नही कर पाते। छायावादी-काल मे आलोचना के शिखर पर पहुँचे आचार्य शुक्ल की दृष्टि मध्यकालीन कवि तुलसी-सूर के भक्ति पर आधारित जनरजनकारी काव्य से अभिभूत थी। इसलिये वे प्रसाद और निराला के आधुनिक भाव-बोध और नवीन चेतना के काव्य का मूल्याकन न कर सके। फलत· छायावाद के मानवीय सम्बन्धो के चितेरे कवि प्रसाद और जीवन-यथार्थ को प्रस्तुत करने वाले कवि निराला के काव्य की उन्होने या तो उपेक्षा की या एकागी आलोचना। आगे चलकर मुक्तिबोध और डॉ. राम विलास शर्मा ने अपनी प्रखर आलोचना दृष्टि से इन कवियो की सघर्षशील और प्रासगिक भूमिका को उद्घाटित किया।

छायावाद के बाद प्रगतिवाद मे जिस प्रकार का सर्जन कर्म सामने आया उसमे भी रचना और आलोचना के परस्पर सम्बन्धो का पूर्णरूपेण निर्वाह नही किया गया। आलोचक के पास जीवन निरपेक्षता नही बल्कि आत्म-निरपेक्षता होनी चाहिये, तभी वह रचना मे आये जीवन-सघर्षों के सत्य से परिचित हो सकता है। प्रगतिवादी आलोचको ने जीवन-सापेक्षता के साथ आत्म-सापेक्षता को भी समान महत्व दिया, जिसके कारण आलोचना के जो मापदण्ड गढे गये वे नकली जीवन के

थे। इन आलोचकों ने प्रयोगवादी रचनाओं को भी इन्ही कसौटियों पर परखा। फलतः कुछ प्रयोगवादी कवि प्रारम्भ में जो समाज सापेक्ष और जीवन सघर्षों के यथार्थ को बारीकी के साथ उभार रहे थे, वे कुंठित हो गये और अपनी दिशा बदल ली। उदाहरण के लिये गिरिजा कुमार माथुर को लिया जा सकता है। वे प्रारम्भ में अच्छी राजनीतिक कवितायें लिख रहे थे। उन पर प्रगतिवादी आलोचकों ने इतने आक्रमण किये कि वे भी अज्ञेय के प्रयोगवादी ढाल में छिप गये। आलोचक अपनी विशाल अनुभव दृष्टि से रचना में आये जीवन के यथार्थ को परखे, उभारे और उसकी सवेदनात्मक व्याख्या करे, न कि अपने आत्म सापेक्ष और बोद्धिक आदर्शपूर्ण मानदण्डों पर रचना को परखे। आलोचक का यह चातुर्य और बौद्धिक व्यायाम आलोचना को हानि ही पहुँचाता है।

आलोचक जब तक विस्तृत दृष्टिकोण से साहित्य को नही देखेगा, तब-तक वह न्याय नही कर सकता। खंड दृष्टि खंडित दृष्टि ही है। सम्पूर्णता में न देख पाने के कारण यह स्थिति उत्पन्न होती है। सामाजिक स्थितियों के विकास से सम्बद्ध घटनाओ के आलोक में ही साहित्यिक आंदोलनों की परख की जानी चाहिये। छायावाद पर काम करने वाले अधिकतर आलोचक प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी तक ही सीमित रहे है। भगवती चरण वर्मा, नवीन, माखन लाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान और गुरु भक्त सिंह जैसे प्रखर कवियों के साहित्य को पढ़ने तक का कष्ट नही करते। छायावाद का सम्पूर्ण अध्ययन तभी सभव होगा, जब छायावाद के समानांतर राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित कवियो का अध्ययन भी किया जाये और देखा जाये कि एक और यह राष्ट्रीय चेतना से सीधे-सीधे जुड़े कवि है जो आजादी के लिये संघर्ष कर रहे थे और दूसरी ओर प्रख्यात छायावादी कवि जो छायावादी शैली को अपना कर सर्जन कर रहे थे। एक ही युग में रचना की विषय-वस्तु और शिल्प के धरातल पर दिखाई पड़ने वाले इस अतर को स्पष्ट करना ही सार्थक आलोचना-कर्म है।

रचनाकार जीवन की समस्याओं को गहराई से तभी उभार सकता है जब उसके सामने स्वस्थ जोवन-दृष्टि हो और विशाल जीवन-अनुभव हों। वह जीवन से जितना गहरा जुड़ा होगा, उसके मन में उतनी ही छटपटाहट होगी, परिवर्तन के लिये मन में टीस होगी, लोगों के प्रति

अपार प्रेम होगा, और मानवता के लिये अटूट आस्था होगी। उसकी रचना मे यह सब आना ही चाहिये। वह इनसे बच नही सकता। यदि उसकी पकड जीवन के प्रति सतही है तो उसकी रचना मे जो जीवन व्यक्त होगा, वह सतही ही होगा। इस प्रकार के लेखको की रचनाओ मे अभिव्यक्त सतही जीवन की व्याख्या आलोचक कैसे करे, यह उसके मर्म-विवेक पर निर्भर करता है। उसके लिये आवश्यक है कि वह जीवन के प्रश्नो को पूरी गहराई और आकुलता के साथ उठाये। रचनाकार भी जीवन के प्रश्नो को उठाते समय विवेक और सवेदना से परिपूर्ण हो। यदि ऐसा नही किया गया तो निराशा, कुठा, हताशा आदि व्यक्तिवादी मूल्यो का ससार निर्मित हो जायेगा। जैसा कि प्रयोगवादी और नयी-कवितावादियो ने किया। इस प्रकार का साहित्य मानवता को दिशा नही दे सकता। यह स्थिति स्वय को समाज से अलग कर देखने के कारण उत्पन्न होती है। व्यक्तिवादी स्थितियो मे जकडा लेखक सामाजिक-जीवन के अतर्विरोधो को न समझ पाने के कारण उसके सामने आई परिस्थितियो के मूल को भी नही समझ पाता। उसे लगता है कि जो कुछ वह झेल रहा है, केवल वही झेल रहा है। उसका कोई साथी-सगी नही है। वह अकेला ही तिल-तिलकर टूट रहा है। और व्यक्तिवादी आलोचक उसके शब्दो पर रीझते है, उसके कौशल पर न्यौछावर होते है, उसकी रचना मे आये सामाजिक अवरोधो की तरफ सकेत भी नही करते, क्योकि वह स्वय भी सामाजिक अनुभव शून्य होते हैं।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रचना और आलोचना अपनी ईमानदारी मे दोनो ही प्रथम-कोटि की हैं। आपसी सम्बन्धो के घनत्व इन्हे समानता प्रदान करते हैं। यह कहना कि रचनाकार की बराबरी आलोचक नही कर सकता, गलत है। दोनो के मार्ग अलग-अलग हैं, माध्यम अलग-अलग हैं—लक्ष्य तो एक ही है। प्रत्येक रचना आलोचक की राय चाहती है और प्रत्येक आलोचना के मूल मे रचना होती है। रचनाकार जिस अनुभव-जगत की व्याख्या अपनी रचनाओ मे करता है, आलोचक उसे प्रामाणिकता प्रदान करता है। आलोचक का यह कर्म कठिन और आत्मनिरपेक्ष किन्तु जीवन-सापेक्ष कर्म है। रचना और आलोचना दोनों के मूल मे जीवन होता है, वह जीवन जिसे दोनो अच्छी प्रकार व्यक्त या स्पष्ट करती हैं और अपनी पूरी सवेदना के साथ

अनुभव करती है। जीवन के अर्तविरोधो को तलाशने और पकड़ने के प्रति उत्कट इच्छा तभी हो सकती है, जब रचनाकार के मन मे जीवन की बुराइयो को दूर करने और नया बेहतर समाज बनाने की इच्छा अकुला रही हो। यह अकुलाहट जितनी तीव्र होगी, रचनाकार की पकड उतनी ही गहरी होगी। आलोचना इस अकुलाहट की ईमानदारी की जाँच करती है और रचना मे आये जीवन एव मानव-सम्बन्धो की सूक्ष्म पडताल करती है। यह कार्य तभी सभव हो सकता है, जब आलोचक की जीवन के प्रति पकड गहरी और मजबूत हो। उसके मन मे जीवन को अच्छा बनाने की तडप हो। आलोचक रचना मे आये नकली जीवन को तभी पकड सकता है, जब वह जीवन को अच्छी प्रकार जानता हो। यदि उसकी दृष्टि वैज्ञानिक और विवेक सम्मत नही है, मानव-सम्बन्धो के द्वद्व को वह नही जानता, पू जीवादी-व्यवस्था के अ तर्विरोधो को वह नही जानता तो यह काम उसके वस का नही है। जयशकर प्रसाद की कामायनी पर मुक्तिवोध द्वारा की गई आलोचना इस बात का प्रमाण है कि यदि आलोचक रचनाकार के स्वभाव, परिवेश और उसकी विचार-सारणियो से परिचित है, तो वह आलोचना को मौलिक योगदान देकर रचना को भी नया अर्थ प्रदान कर सकेगा। इस प्रकार रचना के समानातर आलोचना भी सर्जन है जो सृजित यथार्थ को नवीन दृष्टि से व्याख्यायित करके पाठक के लिये सुबोध, सुपाठ्य और ग्राह्य बनाती है।

मूलत. आलोचना रचना को व्याख्या है। सस्कृत से लेकर आज तक के साहित्य से यह बात साफ हो जाती है। यही कारण है कि बडी रचना ने वडे आलोचक तो दिये परन्तु किसी वडी आलोचना ने रचना-कार पैदा नही किये। अपवाद भले ही मिल जाये। आलोचना रचना की होती है। आलोचना पढकर रचना नही की जा सकती। इसके उदाहरण हिन्दी से ही दें तो अपनी बात और साफ हो सकती है। तुलसी ने आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक दिये, जिन्होने अपनी आलोचना के केंद्र मे "जनता की चित्तवृत्तियो" को रखा। तुलसी की महानता का कारण धार्मिक नही, बल्कि लोक-जीवन की गहरी पकड है। लोक के प्रति अपनी आस्था के कारण तुलसी महान् है, यह सोने मे सुगध है कि कलात्मक दृष्टि से भी रामचरित मानस उत्कृष्ट रचना है। शुक्ल जी

लोक-जीवन के प्रति आस्था को ही आधार बनाते है। यह तुलसीदास का योगदान है। लेकिन आलोचना पढकर किसी रचनाकार ने कोई बडी रचना की हो यह कम से कम हिन्दी मे तो देखने को नही मिलता। आलोचको ने अच्छी रचनाओ की जो व्याख्या की है, उससे रचना और रचनाकार प्रतिष्ठित अवश्य हुये है। अच्छी रचनाओ के मूल तक पहुँचने के लिए जिस दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह आलोचक के पास नही होगी, तो वह रचना मे व्यक्त जीवन और उसमे पिरोये गये विचार को देख-समझ नही सकता। वह दृष्टि जीवन से मिलती है, जीवन सबधो से मिलती है। आलोचक रचना मे छिपे अर्थो को वाणी देता है, उसमे वर्णित जीवन की व्याख्या के द्वारा नवीन सृजन करता है। एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रचनाकार के जीवन आदर्शो और जीवन-सघर्षो से जब-तक आलोचक पूर्णतया परिचित नही होगा, तब-तक वह रचना को अच्छी तरह समझ नही सकेगा। आचार्य शुक्ल द्वारा तुलसीदास और राम विलास शर्मा द्वारा निराला की आलोचनाओ से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है। आचार्य शुक्ल ने मध्ययुगीन परिस्थितियो और तत्कालीन समाज को समझकर तुलसी के लोक-ग्राही सदेश की व्याख्या की है, डॉ शर्मा निराला के जीवन सबघो के आलोक मे उनकी रचनाओ की व्याख्या करते हैं। यह काम निश्चय ही महत्वपूर्ण है। इस प्रकार की आलोचना, आलोचना कर्म को नये अर्थ देती है, रचना को प्रतिष्ठा देती है और रचनाकारो के सदेश से जन-जन को परिचित कराती है।

रचना और आलोचना के अ त सम्बन्धो पर तभी कुठाराघात होता है, जब आलोचक की आस्था जीवन-सघर्षो मे नही होती, जीवन के अ तर्विरोधो की पकड नही होती एव मानवीय-मर्म को देखने की दृष्टि नही होती। ऐसा आलोचक आत्मनिरपेक्ष तो हो नही पाता, वह जीवन-निरपेक्ष हो जाता है। रचना मे अपने अह के दर्शन करता है, उन्ही की व्याख्या करता है। ऐसे आलोचक केवल स्वय को निहारते रहते हैं, रचना उनके लिये अपने अह प्रदर्शन का माध्यम है। जो उनके अपने है, वे महान् है और जो उनके खाचे मे फिट नही बैठते, वे घटिया हैं। शीतकालीन दौर मे ऐसी आलोचनाये खूब हुई और आज भी पत्र-पत्रिकाओ मे समीक्षा के नाम पर ऐसी आलोचना अधिक हो रही है।

ऐसे आलोचक रचना, रचनाकार और पाठकों को कुछ नया नही दे पाते ।

निष्कर्षतः, जीवन-यथार्थ की गहरी पकड़ रचना और आलोचना का केंद्र है । रचनाकार के गहरे जीवन-अनुभव और स्वस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टि ही सफल रचना का आधार होते है । आलोचना के लिये भी आलोचक के पास गहरे जीवन-अनुभवों और मानव-मर्म के बोध वाली दृष्टि का होना आवश्यक है । यही रचना और आलोचना के अंतः-सम्बन्ध का मूल है । सही आलोचना से रचना जीवनदान पाती है तो उत्कृष्ट रचना से आलोचना की बारीकियो को नया आयाम मिलता है । इस प्रकार आलोचना और रचना का अंतः सम्बन्ध इतना गहरा है कि एक के अभाव में दूसरी का अस्तित्व ही खतरे मे पडा दिखाई देता है ।

□□

ग्रामीण शोषण मे सरकारी कर्मचारियो की भूमिका

फणीश्वरनाथ रेणु मूलत ग्राम जीवन के पहले लेखक है, जिन्होने भारतीय ग्राम को पूर्णता के साथ, वहा की तमाम सुन्दरता और असुन्दरता के साथ, वहा की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियो के साथ चित्रित किया है। रेणु ने जिस दृष्टि से गाव को देखा-परखा है, वह अपने समय के किसी अन्य लेखक के पास नही है। ग्रामीण जीवन के जीवत अनुभवो से समृद्ध "मैला आँचल" को जो प्रसिद्धि मिली, उसके कारण कुछ शहराती लेखक भी ग्रामीण जीवन पर अपनी कलम आजमाने लगे, लेकिन अनुभवो के अभाव मे गाव की जटिल जिंदगी के ताने-बाने से अनजान ये लेखक कोई अच्छी कृति नही दे सके।

रेणु के आरंभिक दो उपन्यास "मैला आँचल" और "परती परिकथा" ग्राम भित्तिक उपन्यास हैं। ग्रामीण जीवन के बारीक रेशो को जिस कलात्मकता के साथ सजाया गया है वह मात्र यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति ही नही बल्कि कथाकार की वस्तुगत जीवन की सम्पृक्ति का प्रतीक है। उपन्यासकार के लिये यह आवश्यक भी है कि उसका सम्बन्ध दैनन्दिन-जीवन की प्रत्येक घटना से जुडा हुआ हो। दैनन्दिन-जीवन की घटनाओ और उसके मूल मे पहुचने के लिये उसके मन मे जितनी छटपटाहट होगी, वह उतना ही बडा लेखक होगा। इसीलिये उपन्यासकार व्यक्ति के भाग्य की कहानी उस समय तक नही लिख सकता, जब तक कि वह सम्पूर्ण वास्तविकता के इस सुस्पष्ट-सुस्थिर दर्शन से भी लैस न हो। उसमे यह समझ होनी चाहिये कि जीवन की वे विविध परिस्थितिया कौन-सी है, जिनकी बदौलत उन व्यक्तियो मे से प्रत्येक वैसा बना है,

जैसा कि वह है।[1] रेणु के इन दो आरम्भिक उपन्यासों में यह समझ स्पष्ट है। इन उपन्यासो में मात्र सतही वर्णन ही नही बल्कि परिलक्षित-परिणामो के मूल में कौन-सी परिस्थितिया काम कर रही है, लेखक ने स्पष्ट किया है।

रेणु के ये दो उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर गांव के तीव्रता के साथ बदलते प्रतिमानो को वाणी देने मे सक्षम है। गांव की सम्पूर्ण अच्छाई और बुराई के साथ रेणु साहित्य की देहलीज में प्रवेश करते हैं—"गांव जैसा भी है—सम्पूर्णता के साथ उसे चित्रित किया है। उसमें फूल भी हैं शूल भी, धूल भी है गुलाब भी, कीचड़ भी है चंदन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी—मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नही पाया।"[2] इसका कारण उनकी जीवन के प्रति सूक्ष्म पकड़ और रचनाधर्मिता के प्रति आस्था है। "कथा की सारी अच्छाइयो और बुराइयों के साथ साहित्य की दहलीज पर आ खडा हूं, पता नही अच्छा किया या बुरा। जो भी हो, अपनी निष्ठा मे कमी महसूस नही करता।"[3]

साहित्य की अन्य विधाओं और उपन्यास में अंतर भी लेखकीय आस्था और यथार्थ जीवन की सूक्ष्म पकड का ही है। उपन्यास यथार्थ से इतर होकर जीवंत नही रह सकता, जबकि अन्य साहित्यिक विधाओं के साथ ऐसा नही है। उपन्यास मात्र कथात्मक गद्य नही है, वह मानव-जीवन का गद्य है—"ऐसी पहली कला है जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती है। उपन्यास को अन्य कलाओं से अलग करने वाली महान् विशेपता यह है कि उसमें गुप्त जीवन को प्रत्यक्ष करने की शक्ति है। इस प्रकार यह कला कविता या नाटक या सिनेमा, या चित्रकला या संगीत से यथार्थ का एक भिन्न दृश्य प्रस्तुत करती है।"[4] "मैला आंचल" और "परती : परिकथा" वास्तव मे दो ऐसे ही उपन्यास हैं, जिनमें सम्पूर्ण मानवीयता अपनी आस्था और अस्मिता के साथ विस्तृत फलक पर उद्घाटित होती है। हिंदी के प्रबुद्ध

---

1. राल्फ फाक्स —उपन्यास और लोक जीवन, पृ० 25
2. रेणु —मैला आंचल, भूमिका
3. रेणु
4. राल्फ फाक्स —उपन्यास और लोक जीवन, पृ० 10

आचार्यों ने अब तक रेणु के इन दो उपन्यासो की समीक्षा करते समय उनकी अचलीय गद्य को सूंघकर उन्हे "आचलिक उपन्यास" कहकर द्वितीय पक्ति मे बैठा दिया। यह रेणु के साथ अन्याय है। उनके ये दो उपन्यास मात्र अचल विशेष के ही नही, बल्कि सम्पूर्ण भारत के बदलते गाव का चित्र प्रस्तुत करने मे सक्षम है। अचल का सहारा तो मात्र लेखकीय ईमानदारी का प्रमाण है। इन उपन्यासो के सम्बन्ध मे यह मत अत्यधिक उपयुक्त है कि "ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओ को उजागर करने वाले इन महत्त्वपूर्ण उपन्यासो पर आचलिकता का लेबिल लगाकर उन्हे जानबूझकर एक ओर धकेलने का प्रयास किया गया है।"[1] रेणु के ये दो उपन्यास प्रेमचद की समाजोन्मुख और सोद्देश्य परम्परा की आगे की मजबूत कडी हैं।

"मैला आचल" का प्रशात पहला सरकारी कर्मचारी है, जो कि मेरीगज मे दिखाई पडता है। डॉ० प्रशात एक आस्थावान और परिश्रमी युवक है जो कि जन-सेवा को ही अपना उद्देश्य बनाकर गाव मे आता है। गाँव मे सरकारी कर्मचारी और रिश्वत एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। महत से डाक्टर का प्रथम परिचय होता है और महत ग्रामीण मानसिकता का उद्‌घाटन करते हुये कहते है—"डागडर साहेब आपको कितना मुसहरा मिलता है। दो सौ हाँ, यहा ऊपरी आमदनी भी होगी। असल आमदनी तो ऊपरी आमदनी है।"[2] डॉ० प्रशात चेतना सम्पन्न है, अत उसका व्यवहार अन्य कर्मचारियो से अलग है। मेरीगज और उसके आचल मे व्याप्त कालाज्वार और मलेरिया के कीटाणुओ को समाप्त करने के लिये वह अथक परिश्रम करता है। अत मे जिस निष्कर्ष पर पहुचता है वह वास्तव मे यथार्थ है—"गरीबी और जहालत-इस रोग के दो कीटाणु है।"[3] ये दोनो कीटाणु व्यवस्था की देन है, इनमे प्रशात चाहते हुये भी कुछ नही कर सकता। हाँ, इतना अवश्य करता है कि निर्धन और अशिक्षित सथालो की भूमि को तहसीलदार द्वारा छीने जाने पर वह उन्हे उनके अधिकारो के बारे मे सचेत करता है। "डाक्टर ने कहा कि तुम लोग ही जमीन के असल मालिक हो। कानून है, जिसने

1 डॉ कुवरपाल सिंह —हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ 168
2 रेणु —मैला आचल, पृ० 45
3 रेणु, पृ० 187

तीन साल तक जमीन को जोता-बोया है, जमीन उसी की होगी।"[1] और कालोचरन को वह सचेत करता हुआ कहता है—"मत समझना कि संथालो की जमीन छुडाकर ही जमीदार सतोष कर लेगा। अब गाँव के किसानो की वारी आयेगी।"[2] कालीचरन इस वात पर चौंक उठता है। उसकी दृष्टि मे वह तहसीलदार का आदमी है, लेकिन चेतना सम्पन्न व्यक्ति गलत काम के लिये किसी का नही होता, वह अपने सिद्धातों का होता है। अपने सिद्धातो के लिये वह कैसा भी त्याग कर सकता है। डॉ० प्रशात कालोचरन से अपने तहसीलदार के साथ सम्बन्धो को स्पष्ट करता है—"तहसीलदार साहब गाव के रईस हैं। मुझसे उम्र में वडे हैं। कमला की वीमारी के चलते मुझे कुछ ज्यादा जाना पडता है। वे मुझसे वहुत प्यार करते हैं। मैं भी उन लोगा की इज्जत करता हूँ। लेकिन इसका यह मतलब नही कि मैं तहसीलदार साहव के अन्याय का भी समर्थन करूगा अथवा पक्ष लूगा।"[3] रेणु ने डॉ० प्रशात को एक आदर्श कर्मचारी के रूप मे प्रस्तुत किया है, जिसके प्रत्येक कार्य के पीछे सिद्धात है।

सरकारी कर्मचारियो की मिली-भगत से गाव मे शोषण होता है। मेरीगज गाव मे कपडा, तेल और चीनी की वुर्जी कमलदोहा के कमरुद्दी वावू वाटते हैं। कमलदीहा मेरीगंज से दस कोस है। इसीलिये कमरुद्दी वावू सरकारी कर्मचारियों की सेवा-पूजा करके अपना घर भर रहे हैं। "कमरुद्दी वावू कुजडा है, वैगन की विक्री से ही जमीदार हुये हैं, मुस्लीग के लोडर है। कटिहार पूर्णिया मोटर रोड के किनारे पर ही घर है। हमेशा हाकिम-हुक्काम उनके यहा आते रहते हैं। महीने मे साठ मुर्गियों का खर्च है। लोग कहते हैं कि नये इसडियो जब आये तो सारे इलाके मे यह वात मशहूर हो गई कि वडे-हाकिम है, किसी के यहा न तो जाते हैं और न किसी का पान ही खाते हैं। लेकिन कमरुद्दी वावू भी पीछा छोडने वाले आदमी नही। इसडियो का डलेवर मुसलमान है। उसको कुरान की कसम देकर पान-सुपारी खाने के लिये दिया। बस एक वार कटिहार से लौट रहे थे इसडियो साहव, ठीक कमरुद्दी वावू के घर के सामने जाकर मोटरगाडी खराब हो गई। दस बजे रात को इसडियो

---

1. रेणु पृ० 201
2. रेणु पृ० 225
3. रेणु पृ० 225

साहब और कहा जाते। उसके बाद से ही कमरुद्दी बाबू आँख मूदकर विलेक करने लगे।"[1] रेणु के इस चित्रण से यह स्पष्ट है कि ग्रामीण जनता के शोषण के मूल मे भूस्वामी-सरकारी कर्मचारियो की मिली-भगत ही है। सरकारी कर्मचारियो को गाव मे इसीलिये भेजा जाता है कि वे ग्रामीण जनता के शोषण को समाप्त कर उन्हे उत्थान के मार्ग पर लायें, किंतु होता इसके विपरीत ही है। डॉ० प्रशात जैसे सरकारी कर्मचारी सभी हो जायें तो ग्रामीण-विकास सभव है वरना यह परम्परा राष्ट्रीय विकास के स्रोत को ही नष्ट कर देगी।

सरकारी-कर्मचारी भ्रष्टाचार के बल पर गरीब जनता का दोहन करने मे लगे हुये हैं। परानपुर मे सर्वे के साथ इसीलिये भूस्वामी बटाई-दार कर्मचारियों को घेरे रहते है और सेवा मे लगे रहते है ताकि उनसे लाभ उठाया जा सके। इसी लाभ की आशा में वे कर्मचारियो का घर भर रहे हैं—"कानूनगो के चपरासी जी को इलाके के बड़े से बडे जमीन वाले हाथ उठाकर जयहिंद करते हैं—जयहिंद चपरासी जी।.... ...कहिये कानूनगो साहब को चावल पसद आया। असली बासमती चावल है, अपने खर्च के चावल से निकालकर भेजा था। जी, जी, जी हाँ।... घी आ जायेगा।"[2] वड़े से वड़ा भूस्वामी चपरासी को इसीलिये हाथ उठाकर जयहिंद नही कर रहा कि वह उसका सम्मान कर रहा है। बल्कि उसके मूल मे व्यक्तिगत लाभ के कीड़े कुलबुला रहे है। कानूनगो को घी और चावल इसीलिये दिया जा रहा है कि वह अनैतिक रूप से उनका साथ दे और वे विशाल भूस्वामित्व के अधिकारी बने रहे। सरकारी कर्मचारियो को चंद टुकड़ो मे खरीदकर भूस्वामी मनमाना शोषण कर रहा है। यह बड़ी दु:खद स्थिति है। भूमि पर जिनका अधिकार होना चाहिये, नवीन कानूनो के अनुसार वह नही हो पाता और इसीलिये अब तक किये गये समस्त भूमि सुधार भूस्वामी-वर्ग के हित मे ही गये हैं। इसका मूल कारण सरकारी कर्मचारियो का भ्रष्टाचार ही है।

गरुड़धुज झा गाव का बिचौलिया है। सर्वे सेटलमेंट के समय उसने गाव के महाजन रोशन बिस्वा और सरकारी कर्मचारियो से मिलकर

---

1. रेणु पृ० 80
2. रेणु —परती : परिकथा, पृ० 28

पैसा इकट्ठा किया है। इस त्रिकोण मे लाभ तीनो को ही हुआ। रोशन विस्वा तो इसी के आधार पर तीन सौ बीघे भूमि का स्वामी हो गया है। सरकारी कर्मचारी भी रोज मनीआर्डर कर रहे है और झा जी तो बिना कानून पढे ही वकीलो से अधिक कमा रहे हैं।

"गरुडधुज झा आजकल बहुत व्यस्त हैं। सर्वे के समय उसको रात मे भी छुट्टी नही मिलती। दिन भर सोता है, अवेर मे उठकर भाग पीता है और अधेरा होते ही जैंगडेस कहकर निकल पडता है।.... काम ही ऐसा है कि दिन मे नही किया जा सकता। सर्वे कचहरी मे एक ही हाकिम नही चपरासियो को जोडा जाये तो तैंतीस हाकिम है। तैंतीसो हाकिमो से खूब पटती है गरुडधुज झा की। कानूनगो साहब के कान मे गरुडधुज ने ही मत्र फूककर बतलाया—वाइफ को मगा लीजिये कानूनगो साहब। हर तरह की सुविधा तो होगी ही। फिर, इतना रुपया घर कैसे भेजियेगा। वाइफ आयेगी तो . सभी हाकिम हँसकर वतियाते है उससे। आँख की कनकी मूदकर सोने के कमरे मे ले जाते है। .. बिना वकालत पास किये ही गरुडधुज झा को सैकडो मुवक्किल घेरे रहते है। तब एक बात है। गरुडधुज झा अपने मुवक्किल से काम बनाने के पहले ही फीस ले लेता है। हाकिमो की पूजा मे जो हिस्सा मिलता है, उसका हिसाब अलग है। . गरुडधुज झा बिगडा काम बनाने वाला आदमी है। दूसरी बात, गरुड़धुज के मार्फत कोई काम बनवाना हो तो उससे सीधे बात मत कीजिये। काम खराब हो जायेगा। केयटटोली का रोशन बिस्वा है न उससे कहिये।... पैसा वाला आदमी है। गरुडधुज झा से काम बनवाना है तो रोशन विस्वा को सलाम करना होगा पहले।"[1] बिचौलियो के माध्यम से हो रहे भ्रष्टाचार को रेणु ने स्पष्ट किया है। गाव हो या शहर प्रत्येक स्थान पर सरकारी कर्मचारी बिचौलियो के माध्यम से धन खीच रहे है अनाप-शनाप। सरकारी कर्मचारियो की यह भूमिका बहुत ही दु खद है।

सरकारी कर्मचारियो के बारे मे रेणु और भी स्पष्ट कहते है—"लहरो को गिनकर आमदनी करने वाला आदमी ही सरकारी कर्मचारी हो सकता है।"[2] नये भूमि-सुधार कानून के अनुसार जिस भूमि पर हल

---

1. रेणु पृ. 113
2. रेणु पृ. 121

की रैंक भी पड गई वह उसी की हो गई। परानपुर गाव मे पडी परती पर हल चलते है। भूस्वामी-वर्ग परती को तोडकर अपनी भूसम्पत्ति को बढाना चाहता है। इसके लिये वह सरकारी कर्मचारियो को रिश्वत दे रहा है—"एक हजार रुपया तो सिर्फ छित्तन बाबू दे रहे है जो रमई वाले बाबुओ का ट्रैक्टर भाडा पर लाने गये है। नये कानून की लहरे आती है—जाती है—चाँदी के रुपये मछलियो की तरह छटपटाते हैं। कागज के नोट पछियो की तरह फडफडाकर उडते है।"[1] भूमि सुधार कानून गरीब को भूमि देने और भूस्वामी से फालतू पडी भूमि छीनने को बनाये जाते है लेकिन धन के बल पर सरकारी कर्मचारियो को अपने पक्ष मे करके भूस्वामी वर्ग ने अब तक सभी भूमि सुधार कानूनो का दुरुपयोग ही किया है। गरीब बेचारा देखता रह जाता है और अमीर उसके सामने से उसका अधिकार छीन कर ले जाता है। यह स्थिति वास्तविक है। सरकारी कर्मचारी-वर्ग की इस राष्ट्रद्रोही नीति का अत कही दिखाई नही दे रहा। निरतर रिश्वत के बल पर यह वर्ग पैसा कमा रहा है। सर्वेक्षण करने पर पता चलता है कि यह अपनी आय से दस गुना खर्च करके भी बैंको में पैसा जमा किये रहता है। ऊपर से नीचे तक सभी भ्रष्ट हैं, कौन किसकी कहे।

"मैला आंचल" के तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद के तहसीलदारी छोडने पर हरगोरी सिंह को तहसीलदारी मिली। इसके लिये उसे चार सौ रुपये की रिश्वत देनी पडी।"[2] जो तहसीलदार चार सौ रुपये रिश्वत देकर पद प्राप्त कर रहा है—वह जनता को कैसे छोड देगा। अत सरकारी कर्मचारियो के इस भ्रष्टाचार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव जनता पर ही पडता है। सथाल और गैर-सथाल सघर्ष मे भी पुलिस को रिश्वत देकर भूस्वामी वर्ग छूट जाता है और गरीब सथाल गिरफ्तार हो जाते है—"गैर सथालो मे कोई गिरफ्तार नही हुआ। लेकिन यह मत समझो कि मुफ्त मे यह काम हुआ है।. दारोगा साहब कहने लगे कि खिलावनजी आपके बारे मे एस० पी० साहब को सदेह हो गया है कि आपने सभी यादवो को हसेरी मे जाने के लिये जरूर हुकुम दिया होगा। खिलावनजी की हालत खराब हो गई। वह तो

1 रेणु पृ 121
2 रेणु—मैला आंचल, पृ 145

तहसीलदार भाई थे, तो पाच हजार पर बात छूट गई। नही तो.... नही तो अभी बडे घर की हवा खाते रहते खिलावनजी। सिघजी घर मे नही थे, शिवशकर सिंघ भी नही। अब सिघजी लोगो के मन मे क्या है सो कौन जाने। .. दारोगा भी तो राजपूत है। आदमी के मन का कुछ ठिकाना नही, कब क्या करे। मुफ्त मे सबकी गर्दन नही छूटी है। पाच हजार।"[1] सरकारी कर्मचारियो के भ्रष्टाचारी होने से निर्धन जनता को न्याय नही मिल पाता। स्वाधीन भारत मे आज सरकारी कर्मचारी भूस्वामी-पूंजीपति वर्ग का पालतू बनकर उनके शोषण के मार्गों को प्रशस्त कर रहा है और नये-नये हथियार गढ रहा है। आम जनता पहले से भी अधिक दु खी है। रेणु ने इन विवरणो के द्वारा ऐतिहासिक सदर्भ प्रस्तुत किये हैं। इस भयावह स्थिति मे ग्राम-सुधार के समस्त सरकारी कानून कर्मचारियो की मिली-भगत से भूस्वामी-वर्ग का हित साध रहे हैं और छोटे किसान लगातार भूमिहीन होकर सर्वहाराई स्थिति मे आते जा रहे है। इस सर्वहाराईकरण का विरोध न हुआ तो गाँव उजड जायेंगे। शहर मे जिस प्रकार पूंजी पर एकाधिकार बढ रहा है उसी तरह गाव मे भूमि पर। यह स्थिति निश्चय ही भयावह है, समय रहते इसका समाधान आवश्यक है। बिहार मे भूमि हडपो आदोलन और भूस्वामी-वर्ग द्वारा भूमि-सेना का निर्माण रेणु द्वारा व्यक्त यथार्थ का प्रत्यक्ष रूप है।

□ □

1 रेणु पृ 209

"गबन" मे अभिव्यक्त समसामयिक भारतीय परिदृश्य

हिन्दी साहित्य मे प्रेमचन्द अकेले ऐसे कथाकार हैं जो देश और राष्ट्रीयता की सकीर्ण सीमाओ को लाघकर विश्व-साहित्य से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। "तिलिस्मे होशरुवा" और अन्य ऐसी ही मनोरजन की हल्की-फुल्की सामग्री वाले उपन्यास पढकर प्रेमचद ने अपने मनोजगत की पुष्टि और सम्वर्द्धन तो किया, परन्तु उस धारा से एकदम अलग हटकर समाज की वास्तविकता को पहचाना और यथार्थ के माध्यम से जनता के दु ख-दर्द, आशा निराशा, दमन-उत्पीडन, शोषण और मुक्ति सघर्ष को सशक्त वाणी प्रदान की। प्रेमचद का साहित्य अपने युग की समस्त विभीपिकाओ का दस्तावेज और दीपक है। उनके हाथ मे ऐसी मशाल है, जिससे वे अपने आसपास की जिन्दगी को गहरे जाकर देखते हैं और परखते है। देश की नब्वे प्रतिशत ग्रामीण जनता के निकट बैठकर प्रेमचद ने जो कहानी सुनी और देखी वह अपने साहित्य मे रूपायित की। हिन्दी साहित्य मे कबीर के बाद प्रेमचद का सबसे प्रखर व्यक्तित्व है, जिसने साहित्य को जन-सामान्य से जोडा। सामती ढाचे मे पिलते सघर्परत मजदूर-किसानो की वाणी को जो स्वर प्रेमचद ने प्रदान किया वह हिन्दी साहित्य मे अनूठा है। अपने हृदय के खून और आँख के पानी से प्रेमचद ने जो साहित्य रचा वह मात्र कल्पना नही, बल्कि तत्कालीन युग के पीडित मानव का सच्चा चित्र है।

शरत, टैगोर और बकिम बाबू जैसे सुप्रसिद्ध वगला कथाकारो के युग मे रचना करने वाला यह कलाकार उनकी प्रसिद्धि को पीछे छोडकर ऐसे साहित्य को आगे लेकर आता है, जो जन-जीवन से प्रतिवद्ध और सम्वद्ध है। प्रेमचद का हाथ सदैव देश की जनता की

नब्ज पर रहा, उन्होने जहा कोई गडवडी देखी, वही उसको दूर करने का प्रयास किया। इसीलिए अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक ग्रार ग्राथिक परिस्थितियो का जो यथार्थ चित्रण प्रेमचद मे मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

कुछ लोग प्रेमचद पर गाधीवादी होने का आरोप लगाते है। परतु प्रमचद गाधीवादी बिल्कुल नही थे। हाँ, प्रारम्भ मे गांधीजी के व्यक्तित्व से प्रभावित अवश्य थे। साथ ही गाँधी जी की पूजीपति-समर्थक और जन-विरोधी नीतियो के कट्टर विरोधी भी थे। उनकी महानता यथार्थ की सूक्ष्म पकड के कारण है, जिससे उन्होने "सेवा-सदन"-से लेकर "गोदान" और अधूरे "मगलसूत्र" तक की एक लम्बी यात्रा तय की। "मार्क्सवाद या गाँधीवाद किसी लेखक को कलाकार नही बना देता। कलाकार बनने के लिये जीवन-दर्शन से अधिक मार्मिक सहानुभूति आवश्यक है, दृष्टिकोण से अधिक वह दृष्टि आवश्यक है जो जीवन के हर पहलू को देख सके। सामाजिक जीवन की जानकारी न होगी तो दृष्टिकोण बेचारा क्या करेगा?"[1] पीडित और दलित वर्ग के महासागर मे गहरे पैठकर प्रेमचद ने जो साहित्य रचा, वह उस युग का एक मार्मिक चित्र उपस्थित करता है, उनके पास एक ऐसी सवेदन-शील दृष्टि है, जिसे उन्होने मार्क्सवादी विचारधारा से धार धराकर और पैना कर लिया। क्योकि रचनात्मक कलाकार के लिये मार्क्सवाद वास्तविकता को समझने की एक कुजी है। यह उसे जीवन की तरतीब को देखने मे मदद देता है और यह बताता है कि उसमे प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति क्या है।"[2] चूकि व्यक्ति ही समाज की इकाई है, अतः व्यक्ति को उसकी पूर्णता मे देखना आवश्यक है। "मार्क्सवाद मानव को अपने दर्शन को कद्र मानता है, कारण कि जहाँ वह दावा करता है कि भौतिक शक्तिया आदमी को बदल सकती है, वहा यह भी अत्यत स्पष्टता से घोषित करता है कि यह मानव ही है जो भौतिक शक्तियो को बदलता और ऐसा करने के दौरान अपनी भी कायापलट करता है।"[3] मार्क्सवाद के बिना उस मूल सच्चाई तक पहुँचा भी नही जा

1. राल्फ फाक्स —उपन्यास और लोक जीवन, पृ. 7
2 राल्फ फाक्स —उपन्यास और लोक जीवन, पृ 25
3. राल्फ फाक्स —उपन्यास और लोक जीवन, पृ 23

सकता जो लेखक का उत्स होती है। इसी विचारधारा से लेस होकर प्रेमचद ने अपने साहित्य को शोषित और पीडित जनता की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

हिन्दी साहित्य मे पहली बार दलितो और शोषितो का मार्मिक चित्रण पढकर सामती और पूजीपति-मानसिकता के समीक्षको ने उनके साहित्य को अपनी कुदृष्टि का शिकार बनाया, परन्तु प्रेमचद ने इसकी चिंता बिल्कुल नही की और निरन्तर पीडित-जन की कराह को सशक्त स्वर प्रदान करते रहे। अपने सम्पूर्ण परिवेश को जिस ईमानदारी के साथ, प्रेमचद ने भोगा, उसी ईमानदारी और तल्खी के साथ चित्रित भी किया, क्योकि व्यक्तिगत ईमानदारी का यह बहुत बडा तकाजा है कि लेखक निर्भीकतापूर्वक अपने अतर्निषेधो को सुधारे, उनका सामना कर।"[1] इसीलिये प्रेमचद की परम्परा केवल ग्रामीण परिवेश तक ही सीमित नही रही, वरन् उनके कथानक नगर तथा ग्राम तक विस्तृत रूप से फैले है। किसान, जमीदार, महाजन, मिल मजदूर, पूंजीपति, बडे व्यापारी, पटवारी, पुलिस, कचहरी का अमला, मध्यवर्गीय नागरिक आदि विभिन्न वर्गो के पात्र उपन्यासो मे चित्रित हुये है।"[2]

हर लेखक अपने युग की उपज होता है, वह अपने युग के ज्वलत प्रश्नो और अ तर्विरोधो से निरपेक्ष रहकर साहित्य की रचना नही कर सकता। कही न कही, किसी न किसी स्तर पर उसका अपने समाज से लगाव होता ही है और वही लगाव उसे अपनी पूर्णता के साथ सामाजिक प्रतिबद्धता का पाठ पढाता है। बदलते हुये हालातो को वह जिस कलात्मकता के साथ चित्रित करता है या करना चाहिये, उसका प्रमाण प्रेमचद का साहित्य है। परन्तु प्रेमचद पर यह मिथ्या आरोप भी लगाया जाता है कि उनका साहित्य राजनीतिक प्रचार मात्र है। यह आरोप ऐसे चेतनाहीन लोगो द्वारा लगाया जाता है जो साहित्य को राजनीति से दूर मानते हैं। परतु समझ मे नही आता कि एक ओर तो वे यह कहते हुये नही थकते कि साहित्य का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य होना चाहिये और जब सोद्देश्य साहित्य की बात होती है, तो उनका यह

1 मुक्तिबोध —एक साहित्यिक की डायरी, पृ 129
2 डॉ कुवरपाल सिह —हिंदी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ 9

दोगला विचार उन पर हावी हो जाता है। साहित्य कोई आसमानी या वायवी वस्तु नही है, वह ऐसा ठोस और कांक्रीट प्रमाण है, जिसमे समाज के हर वर्ग और हर परिस्थिति का यथार्थ अकन होता है और होना चाहिये। इसी सदर्भ मे मुक्तिबोध का यह कथन हमारे विचारो की पुष्टि करता है—"साहित्य के प्रश्न मूलत जीवन के प्रश्न हैं। मनुष्य के अन्त करण मे अभिव्यक्ति की आकुलता होती है। वह जीवन-तत्वो को, जीवन-यथार्थ को, जीवन दृष्टि को अपनी कृतियो मे सवेदनात्मक रूप से प्रकट करता है। अतएव, लेखक के वास्तविक मनोवैज्ञानिक सवेदनात्मक जीवन और उसकी अभिव्यक्ति के प्रश्न, वस्तुत उसके जीवन के प्रश्न होते हैं। साहित्य के प्रश्नो को हल्के ढग से नही लिया जा सकता। उनका समुचित, विस्तृत-मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-दृष्टिपूर्ण उत्तर प्रदान करना आवश्यक है।"[1] इसीलिये साहित्य को जीवन की समग्रता मे देखना चाहिये। और राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियां जो समाज की हर इकाई का अपने अनुरूप निर्माण करती हैं, का साहित्य में वर्णन अत्यन्त आवश्यक है। इस आधार पर प्रेमचद साहित्य पर राजनीतिकरण का आरोप मात्र आरोप न रहकर विशेषता बन जाता है। क्योंकि राजनीतिक घटनाओ को उन्होने ज्यो का त्यो नही उतारा है, उन्हे भाव-सवेदन के माध्यम के रूप मे ग्रहण किया है। राष्ट्रीय राजनीतिक परिवेश की कलात्मक नियोजना मे उनके उपन्यास पर्याप्त सफल रहे हैं।"[2]

उपर्युक्त विचारधारा के परिप्रेक्ष्य मे देखें तो "गबन" प्रेमचद का एक ऐसा सशक्त उपन्यास है जिसमे ढहते सामतवाद-साम्राज्यवाद और बढते पूंजीवाद की टक्कर की स्पष्ट टकार है। देश म व्याप्त अराजकता, अत्याचार, पुलिस-दमन, रिश्वत और जमीदारो के शोषण का एक दस्तावेज है "गबन"। "गबन" का कथानक 1905 से लेकर 1930 तक की प्रमुख घटनाओ को समाहित किये हुये है जिसमे स्वदेशी आदोलन और मेरठ षडयन्त्र केस प्रमुख हैं। इन दोनो प्रमुख घटनाओ को प्रेमचद ने सीधे-सीधे न लेकर कलात्मक रूप मे चित्रित किया है।

---

1. मुक्तिबोध —नई कविता का आत्म सघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृ 145
2 डॉ शिव कुमार मिश्र —साहित्य और सामाजिक सदर्भ, पृ 191–92

"स्वदेशी आदोलन" की करुण गाथा देवीदीन नामक वह पात्र सुनाता है, जो निष्ठावान काग्रेसी था, जिसके दो जवान बेटे स्वदेशी आदोलन की भेंट चढ गये—लेकिन देवीदीन को उसकी चिंता नही थी, वह प्रसन्न था कि 'जिस देश मे रहते हैं, जिसका अन्न जल खाते हैं उसके लिये इतना भी न करें तो जीने को धिक्कार है। दो जवान बेटे इसी सुदेसी की भट चढा चुका हू भैया।"[1] परतु आज आजादी के बयालीस साल बाद भी बुर्जुवा नेताओ को देवीदीन जैसे कर्मठ और आस्थावान काग्रेसी कार्यकर्त्ताओ का योगदान नगण्य ही लगता है और देश की मुक्ति का ताज वे लोग अपने सिर पर उठाये घूम रहे है, जो मजदूर किसानो के द्वारा उठाई गई पूर्ण स्वतनता की माग का उपहास उडाया करते थे। "भारत के श्रमजीवी बहुत पहले इस निष्कर्ष पर पहुच गये थे कि अपनी जिंदगी को बेहतर बनाने के लिये सबसे पहले विदेशी हुकूमत को खत्म करना होगा। इसीलिये जब राष्ट्रीय बुर्जुवा-वर्ग और उसके नेता ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शासन को बनाये रखना चाहते थे और उसके अधीन रहकर सिर्फ होमरूल या औपनिवेषिक स्वराज्य की माग कर रहे थे उस वक्त मजदूर-वर्ग पूर्ण स्वाधीनता की माग कर रहा था। खुद इडियन नेशनल काग्रेस के मच से जब मजदूर-किसान पूर्ण स्वाधीनता की माग बुलद करते थे, बडे-बडे बुर्जुवा नेता उसका विरोध करते थे और उसे बचकानापन बताते थे।"[2] "और आज भी जब कि मजदूर किसानो की, क्रातिकारी भूमिका के बारे मे किसी को सदेह नही रह गया है, तब भी बुर्जुवा नेताओ को श्रमजीवी वर्ग के सगठित आदोलन पर आक्षेप करते सुना गया है कि मजदूर-किसान और उसके सगठन तो सिर्फ अपनी रोजी-रोटी के लिये लडते रहे है, स्वाधीनता की लडाई से उनका और उनके सगठन या पार्टी का कोई वास्ता नही रहा।"[3] यह कथन वैसे भी वास्तविकता से परे है क्योकि मुक्ति आदोलन कोई छोटा आदोलन तो था नही जिसे गाधीजी और उनके सुविधाजीवी शिष्यो ने अकेले ही चलाया हो, इसम सबसे बडा योगदान श्रमिक वर्ग और उसकी पार्टी का

---

1 प्रमचद —गबन, पृ 170

2 अयोध्या सिंह —भारत का मुक्ति सग्राम, भूमिका, पृ 8–9

3 अयोध्या सिंह —भारत का मुक्ति सग्राम, भूमिका, पृ 8

है।"[1] स्वदेशी आदोलन के माध्यम से देश मे बढने विदेशी आयात को दृष्टि-गत रखकर यह निर्णय लिया गया कि कोई भी अब विदेशी कपडा नही पहन सकता—सब देश के उद्योगो को विकसित करने के लिये देशी कपडा पहनेगे—जिसका व्यापक असर हुआ। सिर्फ जमीदारो ने ही नही, विद्यार्थियो और नौजवानो ने, किसानो और दुकानदारो ने, यहा तक कि डाक्टरो और देशी सेना ने, ब्राह्मणो और पुरोहितो ने, नाइयो और धोबियो ने बायकाट और स्वदेशी आदोलन के प्रसार मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।[2] और जो इस आदोलन मे भाग न लेता उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाने लगा—विदेशी वस्त्रो की होली जलाई जाने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी माल की खपत एकदम कम हो गई। सरकारी आकडो से पता चलता है कि अगस्त, 1905 और अगस्त 1906 के बीच कितना विदेशी सामान कम आया—"विदेशी नमक की खपत 48 हजार मन से बढकर 77 हजार मन हो गई। विदेशी कपडा 3 करोड गज कम मगाया गया और रुई बटे सूत और सूत के आयात मे जो कमी हुई वह लगभग एक करोड की थी। विदेशी जूतो का आयात 7ɔ प्रतिशत और सीमेट का आयात लगभग 50 प्रतिशत कम हो गया।"[3]

यहा प्रेमचद एक बहुत बडी बात कह देते है कि स्वदेशी आदोलन के प्रभाव मे आये निम्न वर्ग के काग्रेस कार्यकर्त्ताओ ने अपना सब कुछ लुटाकर इस जन-आदोलन को सफल बनाने मे कोई कसर न उठा रखी। परतु दूसरी ओर बडे-बडे काग्रेसी नेताओ ने इस आदोलन के साथ गद्दारी की। "दिखाने को दस बीस कुरते गाढे के बनवा लिये, घर का और सब सामान विलायती है। सब के सब भोग-विलास मे अधे हो रहे है, छोटे भी और बडे भी। उस पर दावा यह है कि देश का उद्धार करेंगे। अरे, तुम क्या देश का उद्धार करोगे ? पहले अपना उद्धार तो कर लो। गरीबो को लूटकर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है। इसीलिये तुम्हारा इस देश मे जन्म हुआ है। हा रोये जाओ, विलायती शरावें उडाओ, विलायती मोटरें दौडाओ, विलायती मुरब्बे और अचार

---

1 अयोध्या सिंह—भारत का मुक्ति सग्राम, भूमिका, पृ 180
2. अयोध्या सिंह—भारत का मुक्ति सग्राम भूमिका, पृ 183
2 रमेशचद्र मजूमदार–हिस्ट्री आव फ्रीडम मूवमेंट इन इण्डिया, भाग 2, पृ 57

चखो, विलायती वर्तनो मे खाओ, विलायती दवाइया पियो, पर देश के नाम को रोये जाओ।"[1] प्रेमचद बडे-बडे काग्रेसी नेताओ की असलियत से जनता को परिचित कराना चाहते हैं जो ऊपर ही ऊपर देशभक्ति का छद्म बाना ओढे फिरते है। इसी दोगलेपन के कारण देवीदीन जैसा कर्मठ और आस्थावान काग्रेसी कार्यकर्त्ता आदोलन से विमुख हो जाता है। उसकी आस्था काग्रेस से ही नही, बड-बडे देशभक्तो से भी उठ जाती है। इसीलिये वह एक काग्रेसी नेता से पूछता है—"साहव, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तो उसका कौन सा रूप तुम्हारी आखो के सामने आता है। तुम भी बडी-बडी तलब लोगे, तुम भी अग्रेजो की तरह बडे-बडे बगलो मे रहोगे, पहाडो की हवा खाओगे, अग्रेजी ठाठ बनाये घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा? तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बदो की जिदगी भले ही आराम और ठाठ से गुजरे, पर देश का तो कोई भला न होगा। बस बगलें झाकने लगे। तुम दिन मे पाच बेर खाना खाते हो और वह भी बढिया माल, गरीब किसान को एक जून सूखा चना भी नही मिलता। उसी का रक्त चूसकर तो सरकार तुम्हे हुद्दे देती है। तुम्हारा ध्यान कभी उसकी ओर जाता है? अभी तुम्हारा सुराज नही है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जायेगा, तब तो तुम गरीबो को पीसकर पी जाओगे।"[2]

एक ओर तो प्रेमचद काग्रेसी कार्यकर्त्ताओ की अवसरवादिता और निजी स्वार्थो के कारण जन-आदोलनो की उपेक्षाओ का वर्णन करते हैं और दूसरी ओर 'गवन" का विस्तार 1905 से लेकर 1930 ई० तक की प्रमुख राजनीतिक और सामाजिक घटनाओ को लेकर करते हैं, जिसमे "गवन" का महत्व और भी बढ जाता है। यह सब प्रेमचद की यथार्थवादी जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। चूकि प्रेमचद मात्र कथाकार ही नही थे, वरन् एक सफल पत्रकार भी थे और पत्रकार जीवन-जगत के प्रति अतिरिक्त जागरूक रहता है, इसीलिये उनके उपन्यासो मे घटनाओ का यथातथ्य वर्णन मिलता है।

---

1 प्रेमचद —गबन, पृ 171

2 प्रेमचद —गबन, पृ 172

1928 ई० के आसपास निरतर बढते कम्युनिस्ट प्रभाव को देखकर और उसकी अतुलनीय शक्ति को परख कर ब्रिटिश साम्राज्ञी बौखला उठे। सारे देश मे मजदूरो मे नई क्राति की भावना जागी, अपने अधिकारो की प्राप्ति के लिये वे कमर कसकर तैयार हो गये और उनकी इस नीति का विश्व के समस्त मजदूर सगठनो ने क्रातिकारी-अभिवादन किया। ब्रिटेन मे चलने वाले कम्युनिस्ट आदोलन के प्रमुख नेताओ ने ससद से लेकर सघर्ष के रास्ते तक भारतीय मजदूरो का साथ दिया। इस अभूतपूर्व एकता ने मानो मरे हुये मजदूरो मे प्राण प्रतिष्ठा ही कर दी, जिसका परिणाम उस समय अपने अधिकारो की प्राप्ति हेतु की गई हडतालो से निकाला जा सकता है—"1929 मे 141 हडतालें हुई थी। 1930 मे 148 हडतालें हुई और 1931 मे 166। हर साल। एक लाख से ज्यादा मजदूरो ने हडतालो मे भाग लिया।"[1] और इस बढती हुई शक्ति मे सबसे बडा हाथ मजदूरो की ईमानदारी और परिश्रम का था, जिससे प्रभावित होकर पडित मोतीलाल नेहरू जैसे बुर्जुवा नेता को भी इस सगठन की कार्य क्षमता और ईमानदारी की प्रशसा करनी पडी—"वे लोग कम्युनिस्ट जिनसे मेरा परिचय हुआ है मतो के, निस्सदेह दृढ मतो के आदमी है। वे ऐसे आदमी है, जिनमे अपने विश्वास का साहस है। ऐसे आदमियो को, आप उनसे सहमत हो या न हो लेकिन अच्छी तरह सतुलित मस्तिष्क के प्रत्येक व्यक्ति से सम्मान मिलने का अधिकार अवश्य होना चाहिये।"[2] लेकिन मजदूर एकता से घबडाकर साम्राज्ञी-सरकार ने कम्युनिस्टो को दबाने और कुचलने के लिये "पब्लिक सेफ्टी बिल" लागू कर दिया, इतना ही नही 19 दिसम्बर, 1928 को भारत सचिव ने वाइसराय के नाम पत्र भेजकर कहा कि—'पब्लिक सेफ्टी बिल ही काफी न होगा। उससे भी कडी कार्यवाही की जरूरत है। मेरा खयाल यह है कि उन सारी सस्थाओ को जो कम्युनिस्ट मतवाद की पैरोकार है या भारत अथवा विदेश के कम्युनिस्टो से सम्बन्ध रखती है, गैर कानूनी घोषित कर देना चाहिये और उनका सदस्य बनना दडनीय करार देना चाहिये।"[3] कम्युनिस्टो के दमन मे ब्रिटिश सरकार

---

1 रजनी पाम दत्त —भारत वर्तमान और भावी, पृ 218–19

2 अयोध्यासिह —भारत का मुक्ति सग्राम, पृ 460

3 सुबोध राय —कम्युनिज्म इन इण्डिया, 1905–34, पृ 74

करने मे सारी शक्ति झोक दी, लेकिन सरकार अपने हर प्रकार के शर्मनाक तरीको से भी पिछले आदोलनो की तरह इन आदोलनो को न दबा सकी क्योंकि पहले के सभी ऐतिहासिक आदोलन अल्पमत के आदोलन रहे हैं या अल्पमत के फायदे के लिये रहे हैं, किन्तु सर्वहारा आदोलन विशाल बहुमत का, विशाल बहुमत के फायदे के लिये होने वाला चेतन तथा स्वतत्र आदोलन है।"[1] किन्तु इस बीच इन समस्त आदोलनो का परिणाम यह निकला कि लोग धडाधड इन सगठनो के सदस्य बनने लगे और राष्ट्रीय आदोलन को एक नई दिशा प्राप्त हुई जिससे वह वर्ग-समन्वय एव समझौतापरस्त नीतियो से निकलकर विशाल और दीर्घ वर्ग सघर्ष की राह पर आया। इसी एकता और सघर्ष की राह पर चलने वाले मजदूर किसानो को एक भारी झटका लगा। 20 मार्च, 1929 को जब कम्युनिस्ट पार्टी, मजदूर किसान पार्टी और ट्रेड यूनियन काग्रेस के बडे नेता गिरफ्तार कर लिये गये।[2] और उन पर "मेरठ षड्यत्र केस" चलाया गया, जिसे प्रेमचद ने "गबन" मे चित्रित किया है। उस झूठे केस की झूठी गवाही के लिये रमानाथ की आवश्यकता पडी। इसकी पुष्टि 13 सितम्बर, 1928 को वाइसराय के पत्र से हो जाती है, जो भारत सचिव के पास भेजा गया था—"हम इस वक्त सारे भारत के खास-खास कम्युनिस्ट नेताओ पर व्यापक षड्यत्र का मुकदमा चलाने की सभावना पर विचार कर रहे है।"[3]

प्रेमचद ने न केवल इस षड्यत्र केस को ही चित्रित किया, वरन् उस समय की सारी परिस्थितियो और पुलिस के द्वारा निर्दोष लोगो की जबरन गवाही का भी भडाफोड किया है। उन 31 श्रमिक नेताओ को जिन्हे ब्रिटिश सरकार ने "मेरठ षड्यत्र केस" चलाने को गिरफ्तार किया था, को सजा दिलाने के लिये झूठी गवाही की आवश्यकता पडती है, जिसे रमानाथ पूरी करता है—"आपको महज एक मुकदमे मे शहादत देनी पडेगी।"[4] और रमानाथ जैसा भीरु फैशनपरस्त उसे भय और नौकरी के अदम्य लालच मे स्वीकार कर लेता है, परतु देवीदीन जैसा

---

1 मार्क्स-एगेल्स —कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, पृ. 50
2. अयोध्यासिंह —भारत का मुक्ति सग्राम, पृ. 460
3. सुबोध राय —कम्युनिज्म इन इण्डिया, पृ 34
4. प्रेमचद —गबन, पृ. 219

कर्मठ मुक्ति सेनानी इसके अतर्विरोधो को समझते हुए कहता है—"अच्छा तो यह मुखबिर बन गये। यह बात है। इसमे तो जो पुलिस सिखायेगी वही तुम्हे कहना पडगा, भैया। मै छोटी समझ का आदमी हूँ, इन बातो का भरम क्या जानू पर मुझसे मुखबिर बनने को कहा जाता तो मै न बनता चाहे कोई लाख रुपये देता। बाहर के आदमी को क्या मालूम कौन अपराधी है, कौन बेकसूर है। दो चार अपराधियो के साथ दो चार बेकसूर भी जरूर ही होगे।"[1] लेकिन पुलिस के चगुल मे जो एक बार फस गया वह निकलने वाला नही—वही नियति रमानाथ की भी हुई।

समाज मे मुखबिरो के असम्मान को समझते हुये जालपा रमानाथ को समझाती है, तो जालपा पर भी पुलिस वालो का शक होता है कि—"स्वराज वालो ने उस औरत को मिला लिया है। यह सब एक ही शैतान हैं।"[2] जालपा पर यह प्रभाव वास्तव मे उस समय के राजनैतिक एव सामाजिक कार्यकर्त्ताओ का ही था, जो इन निर्दोष अभियुक्तो को बचाने के लिये अपना सारा खून-पसीना एक कर रहे थे।[3] सारे देश मे डिफेस कमेटियो का निर्माण किया गया और "ये डिफेस कमेटियाँ वकीलो की फीस तथा अभियुक्तो को खाने-पीने, पुस्तको, समाचार-पत्रो आदि के लिये पैसा इकट्ठा करती।"[4] यही ऐतिहासिक तथ्य "गबन" मे भी आया है—"यहा कुछ चदा भी किया गया।"[5] और अ त मे निर्णय होता है और सबको सजायें सुनाई जाती है।[6]

इस प्रकार "गबन" ह्रासोन्मुख सामन्ती एव साम्राज्ञी व्यवस्था का एक नगा चित्र उपस्थित करता है। वास्तव मे प्रेमचन्द ने अपने जीवन के विशाल अनुभवो के द्वारा अपनी समझ निरतर सशोधित और

1 प्रेमचद —गबन, पृ 219
2 वही, पृ 287
3 अयोध्या सिंह —भारत का मुक्ति सग्राम, पृ 565
4 वही, पृ 565
5 प्रेमचद —गबन, पृ 274
6 अयोध्या सिंह —भारत का मुक्ति सग्राम, पृ 566

सम्पादित की, क्योंकि—जो लेखक अपने हृदय को निरतर सशोधित और सम्पादित नही करता है, उसका विकास रुक जाता है। यह सशोधन और सम्पादन, कवि की जीवन-दृष्टि के द्वारा ही सम्पन्न होना चाहिये—स्वाग रचने के लिये नही।[1] प्रेमचद मे यह बात स्पष्टता के साथ देखी जा सकती है कि उन्होने निरतर अपने को समृद्ध किया। आर्य समाज से लेकर मार्क्सवाद तक की एक लम्बी यात्रा प्रेमचद ने तय की, जो उन्हे विश्व के सर्वश्रेष्ठ जनवादी साहित्यकारो की श्रेणी मे बिठाती है। प्रेमचद के उपन्यास अपने युग के वास्तव मे दस्तावेज और दीपक हैं। उनके साहित्य मे शोषित और पीडित वर्ग के प्रति कोरी सहानुभूति ही नही है वरन् शोषक वर्ग के प्रति सक्रिय घृणा और आक्रोश का भाव भी उत्पन्न होता है और सघर्ष की भाव-भूमि तैयार होती है।[2] आज प्रेमचद साहित्य को निष्पक्ष मूल्याकन की आवश्यकता है—जिससे उनमे छिपा आक्रोश और वर्ग-सघर्ष का रास्ता जनता-जनार्दन को मालूम हो सके।

□

1. मुक्तिबोध —एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 129
2. डॉ. कुवर पाल सिंह —हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना, पृ. 9

निर्मल वर्मा की कहानियों का परिवेश

प्रत्येक भाषा की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास सामान्यतः सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवेश मे होता है। ये विभिन्न धरातल और परिवेश बौद्धिक और संवेदनशील साहित्यकार मे उस नवीन प्रेरणा की प्रतिष्ठा करते हैं जिससे तत्कालीन वस्तुस्थिति को अभिव्यक्ति प्राप्त होती है और इस संदर्भ मे समस्याओं के निदान सम्मुख आते हैं।

वर्तमान पूंजीवादी युग में साहित्यकार की भूमिका अत्यत महत्वपूर्ण हो गई है। वह इन त्रासद स्थितियों से आंख चुराकर कोई बड़ी रचना नही कर सकता। आम आदमी के जीवन और उस पर हो रहे निरंतर अत्याचारो का वह जब तक जीवंत चित्रण नही करेगा, तब तक उसकी रचना आत्मालाप के अलावा और कुछ नहीं हो सकती। इसलिये मेहनतकश जनता के दुःख-सुख के बिना आज कोई भी रचना झूठी लगती है। जिसमें जीवन की धड़कन ही नही हो, वह रचना कैसी ?

साहित्यकार की दृष्टि यथार्थमूलक होनी चाहिये। जब तक वह आदर्श मे संचरण करता रहेगा तब तक वह वास्तविक साहित्य की रचना नही कर सकता क्योकि आदर्श की स्थापना हेतु यथार्थ से पलायन कर अतीत की ओर जाना पड़ता है, यथार्थ परिस्थितियों की अपेक्षा काल्पनिक परिस्थितियों में से गुजरना पड़ता है। इस बात को समझने के लिये प्रसाद और प्रेमचंद के साहित्य को लिया जा सकता है। सम-सामयिक होते हुये भी दोनों मे दृष्टिगत अतर है। एक आदर्शवादी है तो दूसरा यथार्थवादी। एक का विषय अतीत की स्वर्णिम, लुभावनी एवं पलायनवादी वीथियां है तो दूसरे का वर्ण्य-विषय जनता की आशा, आकांक्षाओ और संघर्षो को वाणी प्रदान करना है। प्रेमचद का साहित्य

यह बताता है कि जनता कला का स्रोत है और वही साहित्य की सार्थकता एव स्थायित्व का आधार है। डॉ रामविलास शर्मा ने इस बात को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "प्रेमचद का साहित्य हमे सिखलाता है कि किस तरह क्रातिकारी लफ्फाजी से बचकर सीधे-सादे ढग से जनता की सेवा करने वाला साहित्य रचा जा सकता है। प्रेमचद का साहित्य साम्राज्यवादियो के फैलाये हुये भ्रमो को छिन्न-भिन्न कर देता है। समाज पीछे, व्यक्ति पहले, सोवियत रूस मे व्यक्ति की आजादी नही है, हत्या और लूट का साहित्य जनवादी है, साहित्य का कोई जातीय या राष्ट्रीय रूप नही होता, जिनाकारी का वर्णन मनोवैज्ञानिक साहित्य है, कलाकार को जीवन-सग्राम से तटस्थ रहना चाहिये—हिंदी के पत्रो मे इस तरह की धारणाओ को जो प्रश्रय मिलता है, प्रेमचद का साहित्य उनका ध्वस करता है।"[1]

प्रेमचद के बाद यशपाल, रागेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त, राहुल साकृत्यायन एव नागार्जुन आदि साहित्यकार प्रेमचद की यथार्थ और समाजोन्मुख परम्परा को आगे बढाते रहे है। उन्होने सामाजिक अतविरोधो, जन-सघर्षो एव जन साधारण की आशा-आकाक्षाओ को वाणी प्रदान की है। परन्तु इसके साथ ही दूसरी ओर उच्च मध्यवर्ग के साहित्यकारो ने पूजीवाद से सहयोग कर व्यक्ति स्वातत्र्य, तटस्थता, मानवता आदि के नारे लगाने शुरू किये। इनमे से अनेक साहित्यकार जाने-अनजाने द्वितीय महायुद्ध के बाद की शीतयुद्धीय राजनीति के शिकार हो गये और देशकाल के सदर्भ से कटकर निराशा, कुठा, अनास्था, मूल्यहीनता एव सत्रास आदि पश्चिमी भाव-धारा से प्रेरित अवधारणात्मक यथार्थ के दलदल मे फस गये जिनके परिणामस्वरूप कुछ स्वातत्र्योत्तर कहानीकार प्रेमचद की स्वप्न सार्थक परम्परा को सिर्फ एक छाया और उसे "अप्रासगिक मानकर" कहानी की मृत्यु की घोषणा करते है।

निर्मल वर्मा मे परम्परा एव सदर्भ से कटने का यह प्रयास सर्वाधिक है, जिसके कारण वे नवीनता और रूपवाद के प्रति सर्वाधिक आकर्षित होते है। वे सदर्भ से कटकर नितात निजी परिवेश वाली विदेशी वाता-

1 डॉ राम विलास शर्मा—प्रेमचद और उनका युग, पृ. 8–9

वरण प्रधान कहानियां लिखते हैं । प्राकृतिक अथवा अंग्रेजी वातावरण में एक मूड तथा एक मनःस्थिति का चित्रण करते हैं जो उनकी रूमानी प्रवृत्ति का परिचायक है और यथार्थबोध से कटाव का सूचक है। परन्तु कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त समीक्षकों को उनमें युग बोध दिखाई पड़ता है, उनकी कहानियां आज के विभिन्न संदर्भों में मानव मुक्ति को परिभाषित करती जान पड़ती है, उनमें शुद्ध गद्य का खाका दिखलाई पड़ता है, और उनमे नवजातक-सी ताजगी और सहजता दिखलाई पड़ती है। यह सब कलावाद का प्रभाव है और कुछ नही। समझ मे नही आता कि वे मानव स्थितियां कौन सी हैं ? संघर्षरत पात्र कौन से है ? "परिंदे" की लतिका, "दहलीज" की रुनी, "अंधेरे में" की मा अथवा "अंतर" की वह अथवा ऐसे ही अनेक पात्र जो लिजलिजी भावुकता में अपने मुर्दा अतीत को सीने से चिपटाये रखना चाहते है, क्या इससे मुक्ति ही मानव मुक्ति की सही परिभाषा है ? क्या निर्मल वर्मा के पात्रों में दैनदिन-जीवन का संघर्ष और उसकी ऊर्जा है ? अगर है तो भाषा में यह निष्प्राण चेतना कहां से आ गई ? क्या भाषा की निष्प्राणता यथार्थ बोध की निष्प्राणता की सूचक नही है ? वह जो काव्यमयी निष्प्राण भाषा है जिसमें लॉन के कौने मे तीन पेड़ों का झुरमुट था, ऊपर की फुनगियां एक दूसरे से बार-बार उलझ जाती थी, हवा चलने से उनके बीच आकाश की नीली पलकें कभी मुद जाती थी, कभी खुल जाती थी ।[1] ग्रामोफोन के घूमते हुये तवे पर फूल पत्तियां उग जाती हैं—संगीत के सुर झाड़ियो में हवा से खेलते है, घास के नीचे सोई हुई भूरी मिट्टी पर तितली का नन्हा-सा दिल धड़कता है—मिट्टी और घास के बीच हवा का घोसला कापता है[2] इनका क्या औचित्य है ? आज के संदर्भ मे क्या यह व्यर्थ और अनावश्यक नही लगता ?

आज कहानीकार के सामने यथार्थ का प्रश्न सबसे बड़ा है, जो इससे कतराता है, वह पाठक के सामने अपनी विश्वसनीयता नही जमा पाता । ऐसी स्थिति में उसकी कहानी भी अविश्वसनीय बनी रहती है। क्योंकि आज का पाठक केवल घटनाओं को समझता, वातावरण को

1. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानियां, पृ. 11–12
2. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानिया, पृ. 13–14

देखता या चरित्रों को पढता ही नही पात्रो की संवेदना को अपनाकर सिचुएशंस और परिवेश को अपने भीतर घटते हुये देखता है ।[1] ऐसी स्थिति मे कथाकार यदि सचमुच जीवन का गहरा और व्यापक ज्ञान रखता है तो वह प्रसग स्थिति मे बधे मनुष्य की सवेदनात्मक प्रतिक्रियाओ को ही महत्व नही देगा, वरन् उस स्थिति से सम्बन्ध रखने वाले जो वस्तु सत्य हैं उनको बनाने वाले तत्वों पर अर्थात् व्यक्ति स्वभाव की विशेषताओ, वास्तविकता की पेंचीदगियो और अब तक चलते आये इन सबके विकास क्रम पर, इन सब पर, अवश्य ही ध्यान देकर इस प्रयोग स्थिति के वस्तु सत्य के ताने-बाने को कलात्मक प्रभावशाली रूप मे, (भोडे ढग से नही) प्रस्तुत करेगा । और इस प्रकार व्यक्ति समस्या को मानव समस्या बनाकर एक व्यापक पार्श्वभूमि मे उसे उपस्थित करेगा । वैसा करना चाहिये ।[2] लेकिन यह मानव समस्या निर्मल के पात्रो मे कही नही मिलती । हर पात्र अपने निजी स्तर पर एक ऐसा बोझ उठाये घूम रहा है जिससे उसका कधा भी चरमराने लगा है, परतु पाठक को इसकी आहट भी सुनाई नही पडती । कहने का तात्पर्य यह है कि निर्मल वर्मा के पात्र एक ऐसे रहस्य को जन्म देते हैं जो न उनका ही है न हमारा और न किसी मानव समुदाय का—चाहे वह प्राग और यूरोप के किसी देश के निवासी क्यो न हो—वह निर्मल की चेतनाहीन दृष्टि की ही उपज हैं, जिसमे सिवाय मरने के और कोई रास्ता दिखाई नही पडता क्योकि यथार्थ से दूर हटकर कब तक भावना की अधेरी और चिपचिपी गली मे भटका जा सकता है ? इसीलिये तो "दहलीज" की स्त्री को इतने बरसो बाद लगा कि "वह बगले के सामने खडी है, और सब कुछ वैसा ही है, जैसा कभी बरसो पहले मार्च मे एक दिन था—कुछ भी नही बदला, वही बगला है, मार्च की खुश्क, गर्म हवा साय साय करती चली आ रही है, सूनी सी दुपहर को परदे के रिंग धीमे-धीमे खनखना जाते हैं—और वह घास पर लेटी है—बस, अब अगर मै मर जाऊ—उसने उस घडी सोचा था ।"[3] अथवा "मेहरु बत्ती बुझा दे—उसने सयत, निर्विकार स्वर मे कहा—देखती नही, मैं मर गई हू ।"[4] यह सब

1. राजेन्द्र यादव—एक दुनिया समानातर, पृ. 69
2 मुक्तिबोध—एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 108
3. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानिया, पृ. 11
4. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानिया, पृ. 19

वर्तमान के यथार्थ से न टकराने से उत्पन्न लिजलिजी भावुकता की ही उपज है जिसमे हर पात्र अतीत को सीने से लिपटाये हुये जी रहा है—हर शनिवार की प्रतीक्षा हफ्ते भर की जाती है—वह जैली को अपने स्टाप एलबम के पन्ने खोलकर दिखलाती है और जैसे अपनी किताब से आखे उठाकर पूछती है—"अर्जे टाइना कहा है ? सुमात्रा कहा है ?—वह जैली के पीछे फैली हुई असीम दूरियो के धूमिल छोर पर आ खडी होती है।"[1] और जब शम्मी भाई जैली के सग रिकार्ड बजाते हैं, ताश खेलते हैं—मेज के नीचे अपना पाव उसके पाव पर रख देते है—तो वह अपने कमरे की खिडकी के परदे के परे चुपचाप उन्हे देखती रहती है—जहाँ एक सजीव-सी मायावी रहस्यमयता मे डूबा झिलमिल सा सपना है और परदे को पीछे खोलकर देखना यह क्या कभी नही हो पायेगा, कभी नही हो पायेगा।"[2] अथवा "मेजपोश पर वे लकीरे अब भी अ कित हैं, जो अनजाने मे उसने चम्मच से खीच दी थी। उन लकीरो के दोनो ओर दो प्याले हैं, जिनसे हमने कभी कॉफी पी थी।"[3] इस प्रकार निर्मल के पात्र एक ऐसी चेतनाहीन दिशा मे भटक रहे है, जहा उनको प्रकाश की एक भी किरण दूर की कौडी ही है, वहा उनमे निराशा, कुठा एव मृत्युबोध जन्म लेता है, जिसमे हर पात्र घुट-घुटकर ही मरता है।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारो ने नारी को एक नया रूप दिया, जहा वह अपने पैरो पर खडी है। आर्थिक रूप से स्वतत्र होकर वह अपनी अस्मिता और इयत्ता को पूर्ण सुरक्षित रखती है। पहली नारी की भाति प्रेम मे असफल होकर वह कभी "कोयले वाले" के यहा और कभी "सेनिटोरियम" मे जीवन का त्याग-पत्र नही देती, सारी पारपरिक गरिमा को ठुकरा कर वह यथार्थ के बल पर जीती है और यौन सम्बन्धो को लेकर जो दुनिया भर के मानसिक पूर्वाग्रह थे, उन्हे साहस के साथ तोडती है। परन्तु निर्मल के यहा इसका एकदम उलटा है। निर्मल की नारिया इन्ही पूर्वाग्रहो और दुराग्रहो मे घुट-घुटकर मरती हैं, इन सबसे छुटकारा पाने की दृष्टि उनके पास नही है—जब मैं बहुत छोटी थी, तो

---

1. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानियां, पृ 12
2. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानिया, पृ. 14
3 निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानियां, पृ 32

रात को छत पर सोने से पहले एक सुन्दर-नन्हा-सा तारा चुन लेती थी लेकिन अगली रात बहुत खोजने पर भी तारा नही मिलता था जब बहुत रोती थी तो बउआ किसी कोने मे दूसरा तारा खोजकर मेरे लिये चुन देती थी " [1] और इसी प्रकार बडी होने पर भी शादी न होने की कुंठा को पाले रहती है—"बब्बू, कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि लडकियाँ जब दुल्हन बनती है तो कैसा लगता होगा ? '[2] लतिका की यह कुंठा और भी भयावह रूप धारण कर लेती है, उसे इस कुंठा पर क्रोध तो आता है परतु इससे निकलने का कोई साधन नही तलाशती, 'अनजाने मे गिरीश का चेहरा धुंधला पडता जाता है, याद वह करती है। अब वैसा दर्द नही होता, सिर्फ उसकी याद करती है जो पहले कभी होता था, तब उसे अपने पर ग्लानि होती है। वह फिर (जान-बूझकर) उस घाव को कुरेदती है, जो भरता जा रहा है, खुद-ब-खुद, उसकी कशिशो के बावजूद भरता जा रहा है।"[3] शम्मी भाई के प्रम के चक्कर मे फसी दोनो बहिन जैली एव रुनी भी कुंठा की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। परन्तु इससे बचने का उपाय इनके पास भी नही है। रुनी की कुंठा उसे हमेशा सत्रस्त किये रहती है। उसे लगता है—"उसकी गर्दन के नीचे फ्राक के भीतर से ऊपर उठती हुई कच्ची-सी गोलाइयो मे मीठी-मीठी सी सुइयाँ चुभ रही थी, मानो शम्मी भाई की आवाज ने उसकी नगी पसलियो को होले से उमेठ दिया हो।"[4] इस प्रकार जहाँ स्वातत्र्योत्तर कहानीकारो ने नारी को स्वतन्त्र दर्जा प्रदान किया, वही निर्मल जैसे कुंठित एव चेतनाहीन कहानीकार ने नारी को रीतिकालीन बिहारी की नायिका बना दिया। उसमे इतनी शक्ति और सामर्थ्य नही कि वह इन सब खोखले और कृत्रिम बधनो को तोडकर पुरुष के कधे से कधा मिलाकर कार्य कर सके। पुरुष द्वारा बनाये गये तथाकथित स्वयसेवी सविधान की अवज्ञा कर सके और देवी और गृहलक्ष्मी से ऊपर उठकर वह एक साथ नारी का, स्वतन्त्र नारी का दर्जा प्राप्त कर सके। पुरुष के सामने घुट घुट कर मरने की

---

1 निर्मल वर्मा—परिंदे पृ 21
2. निर्मल वर्मा—परिंदे, पृ 29
3 निर्मल वर्मा—परिंदे, पृ 166
4 निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ 15

अब उसे कहीं कोई आवश्यकता नहीं है न उसको नियति ही। परन्तु निर्मल के यहाँ मानो उसको यही नियति हो। इसलिये निर्मल को नारियाँ ऐसी नारियाँ हैं जो दबी-पिसी रहती हैं, पुरुष के सामने मुँह खोलने की हिम्मत ही मानो उनमें नहीं है। कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता है कि निर्मल की प्रेमिकायें भी जैनेन्द्र की "सुनीता" जैसी ही हैं, जो पर-पुरुष के मात्र कहने से (प्रेमानुभूति के कारण नहीं) नग्न हो जाती है, परन्तु श्रीकांत जैसे नपुंसक पुरुष फिर भी वहाँ से भाग छूटते हैं। निर्मल की "अंतर" कहानी की वह ऐसी ही प्रेमिका है, जो अपने प्रेमी के सामने तो कृत्रिम प्रसन्नता का प्रदर्शन करती है परन्तु प्रेमी के वहाँ से चले जाने के पश्चात एक भारी बोझ के उतर जाने का अहसास करती है। "कुछ देर तक वह पलंग पर आँखें मुंदे लेटी रही। जब उसे निश्चय हो गया कि वह अस्पताल से दूर जा चुका है, तो वह धीरे से उठी। खिड़की खोल दी। बाहर अंधेरे में उस छोटे से शहर की बत्तियाँ जगमगा रही थी।"[1] प्रेमी के सामने जहाँ उसने उसके द्वारा लाई हुई चीजों को खाने की हामी भरी थी, वहीं उसने मेटर्निटी वार्ड से जाने के बाद उस सामान को बाहर फेंक देती है—"वह चुपचाप बिस्तर के पास चली आई। अपने सूटकेस से एक पुराना तौलिया निकाला। फिर उसमें करीने से उन सब चीजों को लपेटा, जो वह उसके लिये छोड़ गया था। खिड़की के पास जाकर उसने उन्हे अंधेरे में फेंक दिया।"[2] यह बड़ी हास्यास्पद स्थिति है कि प्रेमी के सामने जहाँ वह उसके मना करने पर भी उसे प्रसन्न करने के लिये उसे अपना नग्न वक्ष दिखाती है—"उसने अपनी देह से चादर हटा दी और दोनों हाथों से उसका चेहरा अपने वक्ष पर खींच लिया"[3] वही प्रेमी के चले जाने पर प्रसन्नता का अहसास करती है। ऐसी कौन सी मजबूरी है जहाँ वह घुटन और दब्बू वातावरण में भी प्रेम करने को विवश है, लेखक स्पष्ट तो क्या संकेत भी नहीं कर पाया।

निर्मल के मुख्य पात्र भी यथार्थ जीवन से जुड़े न रहकर शराब पी-पीकर पलायन करते से दिखाई देते हैं। उनमें यथार्थ जीवन के

---

1. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ. 128
2. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ. 129
3. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ. 128

कठोर पठार से न टकराने की हीनता भरी रहती है। वास्तविक जीवन क्या है, इसे वह समझने मे सर्वथा असमर्थ हैं। किसी नायक की तरह वह शिमला जाते हैं, स्नोफॉल देखते है, किसी फाइव स्टार होटल मे बैठकर सर्वश्रेष्ठ विदेशी शराव पीते है या प्राग अथवा यूरोप के किसी बडे शहर मे पर्यटक की भांति घूमते हैं—किसी बार की तलाश मे। प्रेम के नाम पर उन्हे साथ-साथ घूमना अच्छा लगता है, परतु यह साथ-साथ घूमना मन के किसी कोने पर अपना चिह्न नही डालता। केवल ऊपर ही ऊपर छलावे और दिखाने के लिये यह प्रेम चलता रहता है। तभी तो "लवर्स" की वह जब उसके अनुरोध को ठुकरा देती है तो उसे लगता है—"नाट इज देट वे" ये चार शब्द बहुत ही छोटे है। आसान है और मैं अचानक खाली सा हो गया हूं, और सोचता हूँ जिदगी कितनी हल्की है। मैं कल रात यही सोचता रहा था कि वह "न" कह देगी तो क्या होगा ? जब उसने कह दिया है, और मैं वैसा ही हूँ। कुछ भी नही बदला।"[1] इस प्रकार निर्मल की प्रत्येक कहानी जहाँ रूमानियत के प्रभाव से बच नही पाती, वही अपना अक्षुण्ण प्रभाव भी नही छोड पाती। यह इनकी सबसे बडी कमजोरी है। और सही भी है नपुसक रूमानियत कब तक अकेली पडी रहकर जी सकती है ? ऊर्जा के अभाव मे उसे एक दिन सूखना ही है।

निर्मल की कहानिया पढते हुये मुझे कभी-कभी यह लगा कि उनके पास एक टीस, एक कसक या एक दर्द अवश्य है जिसे वह अपनी हर कहानी मे शिल्प की नवीनता के आवरण मे लपेटकर पाठको तक पहुँचाने का उपक्रम करते हैं। परन्तु स्पष्ट वैचारिकता न होने के कारण "शिल्पवाद" उन पर हावी हो जाता है और कथ्य अनछुआ रह जाता है। "सितम्बर की एक शाम" एक ऐसी ही सशक्त कथ्य की कहानी है जिसमे बेरोजगार युवक अपने घर की घुटन से उठकर भागता है और अपनी बहन के घर आ जाता है। वह न उसे जीवन से सघर्ष करने की शिक्षा देती है, उसे बताती है कि वह अब बडा हो गया है इसलिये अपने अह की रक्षा घर के वातावरण को बदलकर ही कर सकता है, चाहे उसके लिये सघर्ष ही क्यो न करना पड। इस तरह घर से भागना,

---

1 निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ 29

सडको पर एडिया घिसना, पलायन है—बडप्पन या ग्रह की रक्षा नही—तुम बहुत बडे बन गये हो, छि तुम्हे शर्म नही ग्राती। ग्रपनी तरफ देखो। सडको पर बेकार एडिया घिसने से तुममे बडप्पन ग्रा गया है? ग्राया होगा, मुझे तो दिखता नही।[1] परन्तु स्पष्ट वैचारिकता के ग्रभाव मे ग्राज के युग का जीवत प्रश्न दब गया है ग्रौर उस पर निष्प्राण भाषा की परत जम गई है। वह सितम्बर 1955 की रात थी। एक रात जब चारो ग्रोर शाति का रुपहला, स्निग्ध ग्र धकार नीली निस्तब्ध झील-सा फैला था, ग्रौर चुपचाप प्रतीक्षा कर रहा था क्या कोई कभी जानेगा? जीने का एक झिलमिल क्षरण, जिसकी कोई ग्रनुभूति नही। कोई परिणति नही।[2]

स्वातत्र्योत्तर कहानीकार भाषा के स्तर पर परम्पराजीवी नही है, उसने भाषा मे सप्रेषण की ताप ग्रौर त्वरा भरने के लिये निरतर प्रयोग किये। इसीलिये भाषागत प्रयोग का फलक बहुत व्यापक हो गया। इसमे एक ग्रोर परम्परागत प्रौढता को मद्देनजर रखकर किये गये प्रयोग हैं तो दूसरी ग्रोर परम्परा से हटकर देश के समग्र भौगोलिक विस्तार को स्वायत्त करते हुये पजाबी, बगला, मराठी, भोजपुरी, कश्मीरी ग्रादि भाषाग्रो के नये प्रयोग हैं। इसमे एक ग्रोर नवीन व्याकरण गढने का प्रयास है तो दूसरी ग्रोर गहरी व्यजना शक्ति का विकास। यह भाषिक प्रयोग कहानी को उत्तर से दक्षिण ग्रौर पूरब से पश्चिम तक एक भावात्मक एकता मे पिरो देते हैं। जिसका परिणाम यह हुग्रा कि कहानी की भाषा चद मुट्ठी भर लोगो की ग्रभिजात्य भाषा न रहकर ग्राम ग्रादमी को भाषा बन गई। स्वातत्र्योत्तर कहानी मे यह बदलाव प्रेमचद की सुदीर्घ एव समाजोन्मुख धारा का ही प्रभाव है। परन्तु निर्मल वर्मा इस महान् परम्परा से हटकर पाश्चात्य के रग मे रगी पव की महकती रम की कृत्रिम भाषा को ही ग्राधार बनाते हैं, जिसके कारण वे भाषा के स्तर पर भी ग्राम ग्रादमी से कट जाते हैं।

निर्मल वर्मा की कहानियाँ एक ऐसे चेतनाहीन कहानीकार की कहानियाँ हैं, जिनमे कथ्य के नाम पर एक लिजलिजी ग्रौर नपुंसक

1 निर्मल वर्मा—परिंदे, पृ. 127–28
2. निर्मल वर्मा—परिंदे, पृ 130

आवेगमयी भावुकता है। जिसे लेकर वे एक शिखडी की भाति हाथ पैर तो पटकते हैं परतु चिपचिपा शिल्प, नपुसक कथ्य एव निष्प्राण भाषा उन्हे बीच मे ही छोड पलायन कर जाती है और उन पर नितात व्यक्तिवादी जार्गन हावी हो जाते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप वे कुंठा, सत्रास, मृत्युबोध एव अनास्था आदि मृत भावो का प्रयोग कर कहानी की सरचना करते हैं। जिसकी प्रामाणिकता के लिये वे भारत से पलायन कर प्रयाग और यूरोप की अ धेरी रातो मे (पव की खोज मे विशेषकर) भटकते फिरते हैं। जो पाठक को ऊब और बोरियत का अहसास ही करा पाती है, अपना प्रभाव छोडने भर की सामर्थ्य उनमे नही है। और यही निर्मल जहाँ प्रेमचद जैसे महान कथाकार को आज की परिस्थितियो मे अप्रासगिक करार देने का असफल षड्यत्र करते हैं वही स्वय अपने द्वारा निर्मित षड्यत्र मे बुरी तरह फसकर सर्वथा अप्रासगिक हो जाते है। यह उनकी नियति है अथवा माया का मर्म इसे वे ही अच्छी तरह जान और समझ सकते है।

□□

।

सतह से ऊपर उठते आदमी की त्रासदी

मुक्तिबोध की कवितायें पढकर भी उनके कथा-ससार से अपरिचित नही रहा जा सकता। तनावभरी जिन्दगी के रेशे-रेशे को सुलझाते मुक्तिबोध पाठक से नजदीकी का रिश्ता जोडते है और उसको अपने साथ, अपने जैसे तनाव मे रखते है। प्रेमचद के अवसान से शुरू कर नेहरू-युगात तक साहित्य मे सक्रिय रहे मुक्तिबोध निरतर विकसित और सम्वर्द्धित होते रहे। वैज्ञानिक विचारधारा के आलोक मे रचना को सार्थक परिवर्तन का माध्यम बनाने के लिये बेचैन रहकर जीवन भर उन ताकतो से जूझते रहे जो जिन्दगी को अमानवीय और मनुष्य को सवेदनहीन करने पर तुली हुई है। इस तनाव और बेचैनी की दुनिया मे ही उन्हे समझा जा सकता है, पहचाना जा सकता है।

मुक्तिबोध की साहित्य-यात्रा छायावादी-युग के धुधलके से प्रारम्भ होती है। इसीलिये उनकी प्रारम्भिक रचनाओ मे रोमानियत और भावुकता पूरी तौर पर मिलती है। यह सयोग ही कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी दौर मे भी मुक्तिबोध उसी प्रकार की कवितायें लिख रहे थे, जिनमे छायावादी तत्व अधिक थे। इसका प्रभाव उनकी "तार सप्तक" मे सकलित कविताओ मे भी देखा जा सकता है। कविताओ के साथ-साथ मुक्तिबोध कहानियो मे भी उसी ससार का सृजन कर रहे थे, जो भावुकता, आदर्श और रोमानियत से लबालब था। यह स्थिति और यह भावुकता मुक्तिबोध के जीवन को प्रतिबिम्बित करती है।

मुक्तिबोध की प्रारम्भिक कहानियो पर जयशकर प्रसाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रसाद को वे बडा कवि मानते थे इसलिये प्रसाद के भावुक और दार्शनिक ससार से भी वे अछूते नही रहे। कहानियाँ भी उन्होंने प्रसाद जी की पढी ही होगी, अत. उस प्रभाव

से वे कैसे अछूते रहते। लेकिन उनमे क्रमश विकास हुआ और बाद मे "तार सप्तक" की अपनी कवितायें और वक्तव्य भी उन्हे बेगाने लगने लगे। इस विकास के मूल मे उनकी वैज्ञानिक विचारधारा और जीवन-सघर्ष ही हैं।

बीस वर्ष की उम्र मे मिडिल स्कूल मे अध्यापन और उसके एक वर्ष बाद पारिवारिक असहमति और विरोध के बावजूद शाता से विवाह ने उन्हे जीवन मे अन्य अनेक दिशायें दी, जो कठोर थी, सघर्ष-भरी थी। मुक्तिबोध हिम्मत के साथ उन दिशाओ पर चलते रहे, टकराते रहे और वह भावुकता, जिसने जिन्दगी को भटकाव दिया था, दूर होती गई। इस सघर्ष के दौरान उन्होने बहुत अध्ययन-मनन किया, नौकरियाँ छूटी, छोडी और स्थान परिवर्तन हुये। मनुष्य को परखा, उस पर विश्वास किया, विश्वास टूटे, लेकिन मुक्तिबोध नही टूटे और न किसी प्रकार का समझौता किया। नेहरू-युग के आरंभिक दौर मे जहा पुराने सम्बन्ध टूट रहे थे और नये सम्बन्ध सूत के कच्चे धागे मे लपेटे जा रहे थे, जहाँ मनुष्य के विकास के स्थान पर मशीनो के विकास पर जोर दिया जा रहा था, जहाँ मानवीयता और मनुष्यता लाल-गुलाब से शरमाकर छिप गई थी और प्रगति के नाम पर क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता, भाई-भतीजावाद, भाषावाद एव अन्य अनेक सकीर्णतायें अमरबेल की तरह फैल रही थी, वहाँ मुक्तिबोध अपनी विचार-दृष्टि का विकास करते हैं। एक ठोस और वैज्ञानिक दृष्टि से वे अपने आस-पास को देखते हैं और स्वय के जीवन सघर्षो का विश्लेषण करते है। अपने सघर्षों के आधार पर निम्न-मध्य वर्ग को देखते हैं, और उनके सघर्षों मे अपने सघर्षो की छवि देखते हैं, इसीलिये वे "नयी कहानी" आदोलन के "सीमित" और "दया-माया" के वातावरण से अलग हटकर कहानी लिखते है। उनकी कहानियाँ "परिन्दे" की लतिका की तरह हताश हो "हम कहां जायेंगे" नही कहती, न जैनेंद्र की तरह "स्व-पीडा" मे जगत का रहस्य खोजती है, न यशपाल की तरह विचार को घटनाओ का चर्म पहनाती है और न अज्ञेय की तरह छद्म-सामाजिकता मे घुटती है। मुक्तिबोध इन सबसे अलग कहानी रच रहे थे, जो सतह के आदमी की कहानियाँ हैं। सतह पर सघर्षरत्, सतह के जीवन-मूल्यो के लिये जूझते आदमी की कहानियाँ हैं।

हिन्दी कहानी मे भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता को महत्व प्रदान

कर, उसमे रोचकता और गभीरता बनाये रखने का कार्य मुक्तिबोध ने किया। यह कार्य दो नावो मे पैर रखकर बाढग्रस्त नदी पार करने जैसा है, जिसमे हर समय सयम, सतुलन और विवेक की आवश्यकता होती है। यह चुनौती मुक्तिबोध ने सहर्ष स्वीकार की। "आलोचना" और कविता मे अलग स्थान बनाने के बाद उनके समक्ष यह चुनौती रही होगी कि कहानी मे वे कैसे अपनी अलग पहचान बनाये। गभीर अध्येता मुक्तिबोध के लिये यह सभव नही था कि वे "मध्य वर्ग" की कुठा, हताशा एव घुटन को ही महिमा-मडित करते रहे। उन्होने निम्न-मध्य-वर्ग के टूटते-बिखरते स्वप्नो की कहानियाँ लिखी, जिनमे वैविध्य और रचाव का वैशिष्ट्य है।

मुक्तिबोध अपनी कहानियो मे पात्रो के रूप मे स्कूल के अध्यापक या क्लर्क आदि को चुनते हैं, जो इस व्यवस्था मे चुनौतीपूर्ण जिन्दगी जी रहे है। पात्रो की विशेषता यह है कि वे खूब पढते है, चितन करतेहै, लेकिन समझौते नही करते, रिश्वत नही लेते, झूठ नही बोलते, दूसरे की गर्दन नही काटते, चापलूसी नही करते। इसीलिये सभ्य समाज के तथाकथित आधुनिक गुणो के अभाव मे वे उपेक्षित जीवन जीते है। अपनी बीमारी और पारिवारिक उत्तरदायित्वो के बीच भी वे अकेली जिदगी जीते है। यह एक चुनौतीपूर्ण जिदगी है, जिसे मुक्तिबोध ने स्वय जिया और अपने पात्रो को वैसा ही सृजित किया। आधुनिक सुख-सुविधाओ से उन्हे चिढ है, जीवन मे किसी की कृपा और सहानुभूति से उन्हें नफरत है, वे अपनी जिदगी को अपनी तरह जीना चाहते है। लेकिन इस प्रकार के जीने मे निरतर अवरोध आते है। समाज ऐसे व्यक्तियो को कुचलना चाहता है, दबाना चाहता है, उनकी उपेक्षा करता है। ईर्ष्या और द्वेष के घृणित वातावरण मे मुक्त-जीवन-विवेक कहाँ ? वहाँ तो इसकी हत्या होती है। मुक्तिबोध लगभग प्रत्येक कहानी मे इस प्रकार के प्रश्न को कडवे मन से उठाते है और अत मे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह व्यवस्था टुच्चे और कमीने लोगो की है, अत यहाँ ईमानदार, निष्ठावान और विवेकी-जनो की कोई कीमत नही, इसलिये जैसे भी हो इस व्यवस्था को बदलना चाहिये। इस बारे मे, वे "जलना" कहानी मे लिखते है—"उसके बच्चे बडे होगे। कॉलेज एजुकशन तो क्या ले सकेंगे। इतना पैसा ही नही है कि उनके लिये किताबें खरीदें। लेकिन हाँ,

मैं अपने सारे विचार, मेरी अपनी सारी कल्पनायें और धारणायें उन्हें बता दूगा। उनका बिल्कुल सिस्टेमेटिकली अध्ययन करा दूगा। मैं उन्हें बडे आदमियो की बैठको से दूर रखूगा और इस तरह घुट्टी दूगा कि वे उनके तौर-तरीको से घृणा करे, कि अपने जैसे गरीबो मे ही रहे, और उन्हे लिखाये-पढाये, उन्हे नये-नये विचार दे, उनकी भविष्य कल्पना तीव्र कर दें, उनकी जगत चेतना को विस्तृत और यथार्थवादी बना दे, और उनमे मरे और जिये। मैं उन्हे क्रातिकारी बनाऊंगा। मै उन्हे समाज की तलछट बनने के लिये प्रेरित करूँगा, वे वहाँ बैठे-बैठे किताबें लिखेगे, पैम्पलेट छापेंगे, और जो मिलेगा उसे सबके साथ खाकर उन सब भडकीले दम्भो से घृणा करेंगे जो शिक्षा और सस्कृति के नाम पर चलते हैं।"[1]

मुक्तिबोध भविष्य के लिये यह घोषणा करते है, यह व्रत लेते हैं जिससे यह स्पष्ट है कि वे इस क्रूर व्यवस्था को बदलने के लिये अपना सारा जीवन तो देंगे ही अपने बच्चो को भी इस कार्य के लिये समर्पित कर देगे। "ब्रह्मराक्षस का शिष्य" कहानी मे वे प्रकारान्तर से इसी तथ्य को उद्घाटित करते है। बिना मुक्ति के जीवन व्यर्थ है और मुक्ति बिना ज्ञान के नही आ सकती। वह ज्ञान ऐसा हो जो सबको मिले, अपने तक ही सीमित नही रहे, अपनी ही मुक्ति का रास्ता नही खोजे, अपनी चिताओ और परेशानियो को दूर करने के लिये ही नही भटके, बल्कि सारे समाज की मुक्ति के लिये ज्ञान का प्रचार-प्रसार करे, उसके प्रति दृढता प्रकट करे। कहानी के अत मे "ब्रह्मराक्षस" अपने शिष्य से कहता है—"मैने अज्ञान से तुम्हारी मुक्ति की। तुमने मेरा ज्ञान प्राप्त कर मेरी आत्मा को मुक्ति दिला दी। ज्ञान का लाया हुआ उत्तरदायित्व मैने पूरा किया। अब मेरा यह उत्तरदायित्व तुम पर आ गया। जबतक मेरा दिया तुम किसी और को न दोगे तब-तक तुम्हारी मुक्ति नही।"[2] यह आत्मा की मुक्ति आध्यात्मिक नही है, ठेठ सामाजिक है, जहाँ व्यक्ति ऐसे शिष्यों की तलाश मे रहता है जो उसके लक्ष्य को पूरा करने के लिये ज्ञान के आलोक को चलायेंगे एव साहस और निष्ठा के साथ आगे बढेंगे।

---

1. मुक्तिबोध रचनावली— स० नेमिचद जैन, पृ 167
2. मुक्तिबोध रचनावली— स० नेमिचद जैन, पृ 120

मनुष्य जोवन की सार्थकता इसमें है कि वह जीवन-मूल्यो की प्रतिष्ठा और सुरक्षा के लिये सघर्ष करे, न कि इस अ धी स्वार्थ-भरी दौड में शामिल हो अमानवीय हो जाये। मुक्तिबोध वार-बार अ धी दौड़ से अलग होने के लिये जोर देते हैं। उनकी कई कहानियो के केंद्र में यही विचार निहित है, जिसमे वे अपने वर्ग और अपनी सतह से अलग होकर इस अमानवीय व्यवस्था का पुर्जा होने का विरोध करते हैं। यह व्यवस्था इन प्रकार के अनेक प्रलोभन और अवसर देती है, जिसमें व्यक्ति अपने स्थान मे डिग जाता है और फिर अपने ही लोगो का, अपने जैसो का ही शोषण करता है। इस प्रकार की स्थितियो से जसे मुक्तिबोध चौकस रहे, वैसे ही उनके पात्र भी। सतह पर रहकर, यानी कि अपनी जमीन पर रहकर अपने जोवन मूल्यों के लिये सघर्ष करते रहना, समाज को चैतन्य बनाना, व्यवस्था को क्रूरताओं से भली-भाति परिचित कराना एव उसको जटिलताओ को नियति बताना मुक्तिबोध जरूरो समझते है। "क्लॉड् ईथरली" एव "सतह से उठता आदमी" मे वे इस पर विशेष बल देते हैं। "क्लॉड् ईथरलो" प्रतोकात्मक कहानी है, जिसमे द्वितोय विश्वयुद्ध के समय अमेरिकी बम-वर्षक विमान चालक क्लॉड ईथरली को प्रतोक रूप मे प्रस्तुत कर कहा गया है कि अपने लोगो पर जघन्य अत्याचार करने वाले क्लाड ईथरली जैसे लोग जब अन्याय का अनुभव करते हैं, सत्य को स्वोकारते हैं, तब उन्हे पागल कहकर पागलखानो मे बद कर दिया जाता है। ये पागलखाने कही भी हो सकते हैं और क्लॉड ईथरलो भी हर कही हो सकते हैं, जिन्हें अपने किये पर दु ख है, वे पश्चाताप करना चाहते हैं, परन्तु व्यवस्था उनके घृणित काम को पुरस्कृत करती है, उन्हे महिमाम डित करती है और वह व्यक्ति इसके विपरीत अपने पाप-कर्म का दण्ड चाहता है। दण्ड पागलखाने के अलावा और क्या हो। मुक्तिबोध इस घटना को विशाल मानव-सत्य से जोडते है—"हमारे अपने-अपने मन, हृदय, मस्तिष्क मे ऐसा ही एक पागलखाना है, जहां हम उन उच्च, पवित्र और विद्रोही विचारों और भावो को फेंक देते हैं जिससे कि धीरे-धीरे या तो वे खुद बदलकर समझौतावादी पोशाक पहन सभ्य, भद्र हो जायें, यानी दुरुस्त हो जायें या उमी पागलखाने मे पड़े रहे।"[1] यानी कि सभ्य और भद्र आधुनिक युग मे वे हैं, जो समझौतावादी हैं, जिन्हें बुरा

1. मुक्तिबोध रचनावली— स० नेमीचद जैन, पृ. 160

कुछ भी नही लगता, अपने समाज और अपने वर्ग के लोगो पर हो रहे अत्याचार उन्हे बेचैन नही करते, पागल नही बनाते, ऐसे व्यक्ति ठाठ से समाज मे जीते है, आज के अनुरूप प्रगति की सीढियाँ चढते हैं, समझदार और व्यावहारिक होने का कोई अवसर नही चूकते, लेकिन जो ऐसा नही करते वे "क्लॉड ईथरली" की तरह घुटन अनुभव करते है। इसलिये मुक्तिबोध कहते है—"क्लॉड ईथरली हमारे यहाँ भले ही देह-रूप मे न रहे, लेकिन आत्मा की वैसी बेचैनी रखने वाले लोग तो यहाँ रह ही सकते है।"[1] इह प्रकार के प्रतीक चुनकर कहानियाँ गढना, विशाल मानव-सत्य का उद्घाटन करना मुक्तिबोध की विशेषता है। कलॉड ईथरली नेहरू युग के मानव-सत्य का यथार्थ है। देश और समाज की चिंता करने वाले, अपने वर्ग पर होने वाले शोषण का विरोध करने वाले लोगो की चिताओ की उपेक्षा और समझौतावादी होने पर विशेष बल उस युग का यथार्थ है, आज का यथार्थ भी इतना ही जटिल और घृणित है, जिसे मुक्तिबोध की कहानियो मे पिरोये जीवन-अनुभवो से समझा जा सकता है।

धन कमाने की अंधी दौड़ मे शामिल होकर अपना व्यक्तित्व खो देने को मुक्तिबोध अच्छा नही मानते। हर परिस्थिति से लाभ उठाने वाले व्यक्ति चाहे कितने ही पैसे वाले हो जायें लेकिन उनमे आत्म-बल नही रहता। आत्म-बल के बिना मनुष्य समाज मे किस प्रकार निरीह जीवन जीता है, इसे मुक्तिबोध "सतह से उठता आदमी" के कृष्ण स्वरूप के रूप मे चित्रित करते है। कृष्ण स्वरूप धन के आधार पर स्वय को बडा मानता है, लेकिन जिस व्यक्ति को वह सीढी की तरह प्रयोग करता रहा है, उसके सामने आते ही वह व्यर्थ हो जाता है। उसकी सूरत देखते ही कृष्ण स्वरूप को काठ मार गया। वह ज्यो का त्यो बुतनुमा खडा हो गया। उसकी आँखें फटी सी रह गई और ओठ कुछ बुदबुदाने से लगे।"[2] मुक्तिबोध अत्यधिक धन से उत्पन्न विकृतियो, धन और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के कुत्सित साधनो का विरोध इसलिये नही करते हैं कि उन्हे धन और प्रतिष्ठा से घृणा है। घृणा है उन्हे उन स्थितियो से जहाँ धन कमाने के पीछे दौड़ता आदमी गटर के कीड़े से

---

1. मुक्तिबोध रचनावली— स० नेमिचद जैन, पृ 160
2 मुक्तिबोध रचनावली— स० नेमिचद जैन, पृ. 183

भी गदा और हेय हो जाता है। प्रतिष्ठा एव पदो के लिये किस प्रकार प्रतिभा की हत्या की जाती है, उसे मुक्तिबोध ने जीवन मे स्वय भोगा-देखा है। अनैतिक रूप से पद प्राप्त कर उसकी झूठी शान मे जीते कृष्ण स्वरूप को सम्मान नही देते, आदरणीय दृष्टि से नही देखते, बल्कि कन्हैया के रूप मे वे स्वय आ उपस्थित होते हैं और कहानी के अ त मे कृष्ण स्वरूप द्वारा अर्जित धन और प्रतिष्ठा के लिए अपना अस्तित्व खो देने पर वे थूकते हैं—"कृष्ण स्वरूप को विदा करने जब कन्हैया नीचे पहुँचा तब न मालूम क्यो उसने गटर मे थूक दिया। क्यो। पता नही।"[1] "क्यो और पता नही" कहकर मुक्तिबोध प्रश्न छोडते हैं। पाठक को आनद विभोर नही करते, कृष्ण स्वरूप की स्थितियो पर दया नही उपजाते, बल्कि प्रश्न दागते हैं, पाठक को झकझोर कर चैतन्य करते हैं, क्या हुआ कृष्ण स्वरुप ऐसा, क्यो नही उसने सामान्य और सतह के आदमी की जिंदगी जो, क्यो वह अपने वर्ग से ऊँचा उठने के लिये अपने आस-पास के लोगो के सुख-दु ख को भूल गया, अपनी आत्मा को क्यो उसने गटर मे डुबो दिया, अपने जीवन-मूल्यो के लिये उसने सघर्ष क्यो नही किया ? आदि प्रश्नो को खडा कर मुक्तिबोध इस स्थिति को बताते हैं, जहाँ कृष्ण स्वरूप जैसे हजारो-हजार मध्य-वर्ग के व्यक्ति पूंजीवादी चकाचौध मे अपनी जमीन और अपने विवेक तक को लावारिस छोड देते है। ऐसे व्यक्ति गटर के कीडो से क्या ज्यादा हैं ? नही—यह बात मुक्तिबोध बार-बार कहते हैं।

मनुष्य के स्वाभिमान, एव समाज मे उसके अस्तित्व से बढकर और किसी वस्तु को मुक्तिबोध नही मानते। उनके पात्रो का यही सोच बार-बार कविताओ, कहानियो, डायरी और उपन्यास आदि मे उभरता है। जहाँ भी कोई पात्र विचलित हुआ कि मुक्तिबोध उस पर थूकते हैं, उसे घृणित ठहराते हैं। अपने वर्ग के जीवन-मूल्यो और उसके सुदर भविष्य के लिये सघर्ष करने को वे अच्छा मानते हैं एव अपने वर्ग से अकेले ऊपर उठकर कटने को हेय। यदि यह कहा जाय कि एक ही बात को वे बार-बार हजार-बार भी कहते हैं—तो गलत नही होगा। मुक्तिबोध इस प्रकार की स्थितियो, घटनाओ और विवरणो के माध्यम से भारी जोखिम उठाते हैं, वे प्रेम कहानियां नही लिखते, परिवार के आपसी

1 मुक्तिबोध रचनावली— स नेमिचद जैन, पृ 195

सम्बन्धो को विश्लेषित नही करते, गरीबी और बेरोजगारी पर आसू नही बहाते, वल्कि मध्य-वर्ग के उस आदमी की कहानियाँ कहते हैं, जो पढ लिखकर, चिन्तनशील होकर भी समझौता न कर सकने के कारण इस समाज मे उपेक्षित हैं, परिवार और उसके अपने यानी कि उसकी पत्नी तक उसे समझ नही पा रहे हैं, उसकी ईमानदारी, उसके खरेपन और उसके जीवन मूल्यो के प्रति उनके मन मे कोई सम्मान नही है। इसीलिये उनकी कहानियो मे बेचैनी और अकुलाहट की ऊष्मा सर्वत्र मिलती है। यह एक पात्र की स्थिति नही है, बल्कि सारे मध्य-वर्ग की यह नियति है और इससे मुक्ति इस व्यवस्था के बदलने से ही सम्भव है और बदलाव अकेले नही आ सकता। बदलाव के लिये जिस चेतना की, आग की जरूरत है, उसे वे अनवरत् प्रज्वलित करते हैं, उसे न बुझने देने के लिये एक ही प्रकार की कहानियाँ लिखते है। फिर भी उनमे न दुहराव है और न जडता। जो ताजगी है, जो नवीनता है वह जीवन-अनुभवो की प्रखरता और अपने वर्ग के सुख-दु ख की दुर्निवार चिन्ता के कारण है।

मुक्तिबोध के रचना-ससार का स्वर्ग-काल 1950 से 1964 तक माना जा सकता है। यानी कि पूरा नेहरू युग। यही वह काल है, जब "नयी कविता" के नाम पर मध्यवर्गीय पीडा, सत्रास और ऊब को पश्चिमी अस्तित्ववादी आवरण मे परोसा जा रहा था, जब "नयी कहानी" के नाम पर भोगे हुये यथार्थ को निरीह दुनिया सृजित हो रही थी, यही वह काल है—जब आचलिक कथा-साहित्य के नाम पर गाँव को शहर से अलगकर "मैनरिज्म" को प्रचारित किया जा रहा था और यही वह काल है जब स्वय मुक्तिबोध अपने ही प्रगतिशील लोगो से जूझ रहे थे। "किसान मजदूरो" के अलावा प्रगतिशील-साहित्य को मध्य-वर्ग की सीमित दुनिया से निकाल उसके विवेक को जागृत करने, उन परिस्थितियो से लडने को तैयार कर रहे थे, जो मनुष्यता को वन्दी बनाये हुये हैं। अपने युग की घुटन और पीडा को उन्होने निराशा मे नही, आशा और आस्था के रूप मे चित्रित किया। इसीलिये वे क्राति-धर्मा और युग द्रष्टा हैं। प्रतिवद्ध लेखको को मुक्तिवोध द्वारा बताई दिशा ही आगे ले जायेगी। यही असली मार्ग है—जहाँ आगे सहस्त्र पखुडियो वाला अरुण कमल खिल रहा है।



साम्प्रदायिकता और हिन्दी उपन्यास

स्वाधीनता के बयालीस वर्ष बाद भी धर्म-निरपेक्ष भारत मे साम्प्रदायिक-समस्या जिस भयावह रूप मे सामने खडी है, वह हमारी स्वाधीनता, समानता और सम्प्रभुता के लिये खतरा बन गई है। साम्प्रदायिकता की आग मे राजनीतिक-रोटी सेकने का हर आदमी प्रयत्न कर रहा है। उसके सामने देश उसकी एकता और धर्म-निरपेक्षता अक्षुण्ण बनाये रखने की समस्या है ही नही। आज के समय मे यह तथ्य नही भूलना चाहिये कि हमारे जीवन के मूल मे राजनीति है। राजनीति ही वह चक्र है, जिसके चारो ओर हम-सब घूम रहे है। ऐसी स्थिति मे राजनीतिज्ञो की भूमिका को नकारना, समस्या का सही समाधान खोजने का प्रयत्न नही हो सकता। राजनीतिज्ञो ने स्वाधीनता आदोलन के समय इस ओर ध्यान दिया होता तो आज यह स्थिति न होती। जब गाधीजी ने सार्वजनिक रूप से यह कहा था कि—"भारत की स्वतत्रता से अधिक महत्व मेरे लिये अपनी मुक्ति का है, मै पहले हिंदू हूँ और देश-भक्त बाद मे।"[1] तब शायद यह नही सोचा होगा कि वे स्वय को हिन्दू मानकर मुसलमानो को अपने से अलग कर रहे हैं और इस प्रकार सार्वजनिक वक्तव्य देकर मुसलमानो का नेतृत्व उसे दे रहे है, जो इसी प्रकार की घोषणा कर मुसलमानो का एकछत्र नेता बन जाये। जिन्ना ने इस स्थिति का लाभ उठाते हुये वक्तव्य दिया कि "मेरे लिये सबसे पहले इस्लाम है। अदना से अदना मुसलमान मेरी नजर मे गाधी से अधिक पवित्र है।"[2] ये दोनो वक्तव्य हमारे राष्ट्रीय नेताओ की सोच का ज्वलत उदाहरण हैं। धर्म-निरपेक्ष भारत की प्रतिष्ठा की बात करने वाले गाधी दैनिक जीवन मे कितने धर्म-निरपेक्ष थे, यह तथ्य किसी से छिपा नही है। इसी

1. उद्धृत, यशपाल—बात-बात मे बात, पृ 102
2 उद्धृत, यशपाल—बात-बात मे बात, पृ 70

का परिणाम है कि विधान-सभा मे जन-प्रतिनिधि स्वय को साम्प्रदायिक कहकर भी लज्जा अनुभव नही करते। 10 जुलाई, 1989 को राजस्थान विधान सभा मे साम्प्रदायिकता की समस्या पर हो रही बहस के अवसर पर जब कांग्रेस-इ० के रतनलाल ताम्बी ने भारतीय जनता पार्टी के सदस्यो से यह कहा कि "भाजपा राज्य मे अच्छा वातावरण बनाने मे सहयोग दे तथा सिद्ध करे कि आप साम्प्रदायिक नही है।" तब इस कथन पर भाजपा विधायक घनश्याम तिवाडी ने जोर देकर कहा, "मै तो हिन्दू सम्प्रदाय मे विश्वास करता हूँ। पक्का साम्प्रदायिक हूँ। मेरा जन्म ब्राह्मण के घर मे हुआ। मै पक्का पडित भी हूँ। अब बोलो आप क्या कहना चाहते हो।"[1]

साम्प्रदायिकता की समस्या के मूल मे अग्रेजो ने अधिक पानी दिया। हमारे राष्ट्रीय नेता अग्रेजो की कुटिल चालो को समझ नही सके और वे भी उसी धारा मे बहने लगे। इसलिये इसके मूल तक पहुँचने के लिये उन कारणो और स्थितियो को देखना होगा, जहा से यह जन्मी और बडी हुई। अ ग्रेज इस तथ्य से सुपरिचित थे कि जब-तक हिंदू-मुसलमान आपस मे लडते रहेगे, तब-तक वे निर्विघ्न राज्य करते रहेंगे। उनकी समस्त कूटनीति का आधार "फूट डालो और राज्य करो" ही था। अपने इस सिद्धात का पालन कराने के लिये मुरादाबाद के कमाडर ले० कर्नल कोक ने कहा था कि हमारी कोशिश यह होनी चाहिये कि हम पूरी ताकत के साथ धर्मो और जातियो के बीच मौजूद भेद-भाव को बना रहने दें। हमे यह भेद-भाव समाप्त करने की कोशिश नही करनी चाहिये। फूट डालो और राज करो ही हमारा सिद्धात होना चाहिये।"[2] अ ग्रेजो के इस सिद्धात ने हिंदू-मुसलमानो को अलग-थलग कर उन्हे एक-दूसरे का दुश्मन बना दिया। सामान्य हिंदू को इस्लाम से घृणा नही थी और न सामान्य मुसलमान को हिंदू धर्म से। यदि यह घृणा भाव विधर्मियो के प्रति होता तो अ ग्रेजो के प्रति क्यो नही हुआ, जो विधर्मी और विदेशी होते हुये भी दोनो धर्मो के अनुयायियो का उत्पीडन कर रहे थे, उनका शोषण कर रहे थे। इस नीति के चलते स्थिति यहा-तक पहुँची कि 4-4-1939 को दिल्ली मे मुस्लिम लीग के

---

1 राजस्थान पत्रिका, पृ 7, दिनाक 11-7-89

2 उद्धृत, रजनी पाम दत्त, आज का भारत, पृ 463

प्रातीय अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए मसूदाबाद के राजा ने स्पष्ट घोषणा की कि "करोडो (बनिया) को यह जान लेना चाहिये कि वह समुदाय जिसने कभी आठ सिपाहियो के बल पर भारत जीता था, आज भी अपनी शर्ते मनवा सकता है ...... विश्व इतिहास मे इस मुस्लिम समुदाय की आज भी एक भूमिका है और यदि शोर मचाने वाले कलम घसीटू, जैसे कि हिंदू है, हमारा विरोध करने का साहस करते हैं तो उनका नामोनिशान इस दुनिया से मिटा दिया जायेगा।"[1]

1857 का प्रथम स्वतत्रता-सग्राम अ ग्रेजो के प्रति घृणा की अभिव्यक्ति था। जिस प्रकार अ ग्रेजो को गाजर-मूली की तरह काटा गया, उससे उनके मन मे भारतीय इतिहास और सस्कृति को समझ कर अपने हित साधने का विचार आया। अ ग्रेज भारत को छोडना नही चाहते थे। दोहन का जो क्षेत्र उन्हे यहा मिला था, वह अन्यत्र कही सम्भव नही था। अत उन्होने अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये भारतीय इतिहास, दर्शन, धर्म, रीति-रिवाज आदि का गभीर अध्ययन किया।" ब्रिटिश शासको ने महसूस किया कि यह विद्रोह भारतीय धर्म, रीति-रिवाज और इतिहास से उनकी अनभिज्ञता के कारण हुआ। उन्हे यह भी लगा कि कि जब-तक मिशनिरियो को भारतीय सामाजिक ढाँचे की कमजोरियो का पता नही चलेगा, तब-तक यहा के लोगो के मन मे ईसाई धर्म के प्रति और उसके माध्यम से साम्राज्य के प्रति श्रद्धा नही जगाई जा सकती।"[2] मैक्समूलर ने इस सदर्भ मे यह मत प्रकट किया कि "ईसाई धर्म प्रचारको के लिये धर्म-ग्रथो का सही ज्ञान प्राप्त करना उतना ही अनिवार्य है, जितना कि किसी सेनापति के लिये शत्रु देश की जानकारी हासिल करना।"[3] अ ग्रेज शासक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मुसलमानो को विदेशी और विधर्मी करार देकर हिदुओ के मन मे उनके प्रति घृणा भर दे। अपनी सस्कृति और धर्म का प्रचार अ ग्रेजो सहृदय और विश्व-बधुत्व के रुप मे किया। जिससे ईसाई मिशनरिया सम्पूर्ण भारत मे फैल गई और अ ग्रेज शासको के प्रति प्रतिष्ठा-भाव जागृत करने लगी।

---

1. प्रभा दीक्षित—साप्रदायिकता का ऐतिहासिक सदर्भ, पृ 87
2. रामशरण शर्मा—प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एव सस्थायें, पृ 1
3 रामशरण शर्मा—प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एव सस्थायें, पृ 1

1857 के स्वाधीनता-सग्राम मे हिंदू राजाश्रो की स्वामिभक्ति से अ ग्रेज बहुत प्रसन्न थे। इसलिये उन्होने मुसलमानो को अपने अत्याचारो का केंद्र बनाया। इसके मूल मे दो कारण थे। पहला यह कि, भविष्य मे मुसलमानो की दुर्दशा देखकर अन्य कोई धर्म अ ग्रेजो का विरोध करने का साहस नही बटोर सकेगा। दूसरा यह कि हिंदू उनके स्वामिभक्त बने रहेगे। परिणाम यह हुआ कि विद्रोह के तुरत बाद मुसलमानो को सताया जाने लगा, बडे पैमाने पर उनकी जमीन-जायदादें छीनली और हिंदुओ को अपना प्रिय पात्र घोषित कर दिया।"[1] मुसलमानो का भयानक दमन किया गया। अकेले दिल्ली मे ही सत्ताईस हजार मुसलमानो को फासी पर लटका दिया गया। इस दमन और अत्याचार ने मुसलमानो को चूर-चूर कर दिया। उनके मन मे अ ग्रेजो के प्रति कम व हिंदुओ के प्रति अधिक घृणा का भाव उत्पन्न हुआ। उन्हे साफ दिखाई पड गया कि जो हिंदू राजा अ ग्रेजो से मिलकर मुसलमानो पर अत्याचार करा सकते हैं, वे उनके सुहृदय कभी नही हो सकते। हिंदू राजा और उनके मनसबदारो के मन मे मुसलमानो के प्रति जो शत्रु-भाव था, उसी की परिणति इस समय साकार हुई। वे यह भूल गये कि मुसलमानो से अधिक अत्याचारी अ ग्रेज है, जिन्हे एक बार पैर जमाने के बाद उखाडना कठिन होगा। आपसी कलह और ईर्ष्या के वातावरण मे लडा गया—यह स्वाधीकता-सग्राम असफल हुआ, जिसका असीमित लाभ अ ग्रजो ने उठाया।

अ ग्रजो के प्रिय पात्र बने हिंदुओ ने जब आर्थिक लाभ प्राप्त कर आगे बढना शुरू किया और एक शक्ति क रूप मे उभरने लगे, तब अ ग्रेजो की आखो मे खटकने लगे। उस शक्ति को कम करन के लिये उन्होंने अवसर की तलाश मे बैठे मुसलमानो पर वरदहस्त रख दिया। अ ग्रेजो ने हिंदुओ पर इसलिये कृपा की थी कि वे कभी विद्रोह नही करेंगे, इसलिये नही कि वे आगे बढने लगें। मुसलमानो का उपरी वर्ग भी, जिसका मुख्य आधार बडे जमीदारो मे था, व्यापारिक और औद्योगिक पूजीपति-वर्ग की उन्नति देखकर खुश नही हुआ, क्योकि उसे ऐसा लगता था कि यह उन्नति हिंदुओ की या "हिंदू-बनियो की उन्नति है। इसे वे बडी खतरनाक स्थिति मानते थे।"[2] राष्ट्रीय आदोलन मे साम्प्रदायिकता

1 विपिन चद्र—आधुनिक भारत, पृ. 128
2 रजनी पामदत्त—आज का भारत, पृ 465

के बीज बोने के लिये यह नीति अधिक कारगर हुई। "अंग्रेजो का शासन कायम होने से पहले भारत मे उस तरह के हिंदू-मुस्लिम झगडे कभी नही दिखाई दिये जैसे झगडे अ ग्रेजी शासन काल मे और खासतौर से इसके अन्तिम दिनो मे देखने को मिले। किसी एक रियासत के साथ किसी दूसरी रियासत का सघर्ष भी हुआ और कभी-कभी यह भी देखने मे आया कि एक रियासत का शासक हिंदू है और दूसरी का मुसलमान। लेकिन ऐसा कभी नही हुआ कि इन सघर्षो ने हिंदू-मुसलमान सघर्ष का रूप लिया हो।"[1]

अ ग्रेज शासको ने इस आग को और अधिक फैलाया। लगातार हिंदू-मुसलमानो के बीच एक दीवार बनाये रखी, ताकि ये दोनो परस्पर मिल न सके। इसी सदर्भ मे गर्म-दल वालो की भूमिका भी कोई अच्छी नही रही। उनके उग्र राष्ट्रवाद ने साम्प्रदायिकता को उभारने मे कोई कमी नही छोडी। राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील किन्तु सामाजिक दृष्टि से घोर प्रतिक्रियावादी गर्मदलियो ने पुनरुत्थान का जो बेतुका ढोल बजाया, उससे एक सम्प्रदाय भयकर नाराज हुआ। लाल-बाल-पाल तीनो ही कट्टर राष्ट्रवादी और भयकर-पुनरुत्थानवादी थे। लाला लाजपतराय आर्य समाज के नेता थे, बाल गगाधर तिलक पक्के सनातनी और विपिन चद्र पाल काली माँ के उपासक थे। इनका कहना था—"हिंदू धर्म ही हमारी आकाक्षाओ की पूर्ति कर सकता है। राष्ट्रीयता एक धर्म है और ईश्वर की देन है।' उन्होने शिवाजी, गणपति, गोहत्या विरोध आदि के सामतवादी-सस्कृति के हथियारो से पूंजीवादी सस्कृति को पराजित करने की नाकामयाब कोशिश की।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि "अगर तिलक, विपिन चद्र पाल और लाला लाजपतराय वगैरह ने धार्मिक और सामाजिक मामलो मे वही रुख अपनाया होता जो नरम दल वालो ने अपनाया था, तो सैय्यद अहमद और शासको का किसी भी प्रकार का विरोध मुसलमानो को भारी सख्या मे काग्रेस मे शामिल होने से न रोक पाता।"[3] इसी भूमिका के कारण लगातार मुसलमानो की सख्या काग्रेस मे घटती गई। प्रारभ मे मुसलमानो का झुकाव काग्रेस की ओर था

1. रजनी पामदत्त—आज का भारत, पृ. 462
2 सव्यसाची—भारत की स्वाधीनता का इतिहास, पृ 89
3 अयोध्यासिंह —भारत का मुक्ति सग्राम, पृ 115

लेकिन 1893 के बाद उसमे गिरावट आती गई। सुनिश्चित रूप से इसका एक खास कारण सर सैय्यद अहमद वगैरह का ब्रिटिश शासको की कृपा से 1890 के बाद होने वाले हिंदू-मुस्लिम दगो, गोवध विरोधी आदोलन, हिंदी-उर्दू विरोध आदि भी एक हद तक काग्रस से मुसलमानो को अलग रखने मे सहायक हुये।"[1]

1905 मे बग-भग विरोधी आदोलन के बगाल तक ही सीमित रहने के कारण अ ग्रेजो की शक्ति और साहस मे बढोतरी हुई। लार्ड मिंटो की सह पर बग-भग आदोलन का विरोध करने के लिये ढाका के नवाब सलीमुल्ला को "भारत सरकार ने कम व्याज की दर पर 13 लाख रुपये का कर्ज दिया।"[2] बग-भग का जोरदार विरोध सारे भारत मे होता तो हिंदू-मुस्लिम एकता बढती। साम्प्रदायिकता का भयावह रूप नही आ पाता। लेकिन इस आदोलन के असफल हो जाने पर हिंदू-मुसलमान विरोध उभरकर सामने आये और 1906 मे "मुस्लिम लीग" की स्थापना ने साप्रदायिक विद्वेष को भरपूर हवा दी। ज्यादातर मुसलमानो की आस्था लीग के प्रति होने लगी। धीरे-धीरे यह आग जलती रही। दोनो धर्मो के नेता अपने नेतृत्व को बनाये रखने के लिये धर्म की आड मे अपनी कुर्सी के स्वप्न बुनने लगे। यह कहने मे भी सकोच नही होना चाहिये कि साम्राज्यवादियो ने अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिये सारे हिंदुस्तान को दो धर्मो मे बाट दिया और दोनो धर्मों के नेता भी प्रतिष्ठित कर दिये ताकि उनकी सत्ता सुरक्षित रह सके। इस प्रकार साप्रदायिकता का विष-वृक्ष फलता-फूलता रहा। और अपनी परेशानियो से जूझ रही भारतीय जनता इस चालाक खेल से अनजान रहकर नेताओ के स्वर मे स्वर मिलाकर भारत के लिये नही, धर्म के लिये मरने-मिटने को तैयार हो गई। हिंदू महासभा, राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ एव मुस्लिम लीग तथा जमाते इस्लामी इन्ही नीतियो के परिणाम हैं और साप्रदायिक विद्वेष इस विष-वृक्ष के फल-फूल। यह साप्रदायिक विद्वेष लगातार फैल रहा है, इसकी जडें स्वाधीनता के पश्चात् और अधिक गहरी हुई हैं। राम-जन्म भूमि, बाबरी मस्जिद, खालिस्तान एव अन्य इस

---

1 अयोध्यासिंह—भारत का मुक्ति सग्राम, पृ 224

2 अयोध्यासिंह—भारत का मुक्ति सग्राम, पृ 224

प्रकार के आदोलन साम्प्रदायिक विद्वेष को फैला रहे हैं। और सत्ता-वर्ग दलाल-महात्माओ को सरकारी सुविधा देकर उनसे आशीर्वाद लेकर मस्त हो रहा है।

साम्प्रदायिकता के इस घृणित और कुत्सित स्वरूप को जन-सामान्य तक ले जाने के लिये साहित्य ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। उर्दू के प्रतिष्ठित कथाकार सहादत हसन मटो की श्रेष्ठ और प्रौढ कहानिया साम्प्रदायिक उन्माद और उससे उत्पन्न नारकीयता पर करारी चोट करती है। "खोल दो, एव टोबा टेकसिह" अलग-अलग सवेदना की कहानी है। दोनो मे इस स्थिति को अमानवीय बताया गया है। हिंदी मे यह कार्य सर्वप्रथम प्रेमचद ने किया। प्रेमचद के समय मे जो साम्प्रदायिकता थी, उसके लिये उन्होने सामजस्य का रास्ता पकड़ उसके समाधान खोजे और यह स्पष्ट किया कि सवाल हिंदू मुस्लिम का नही है, सवाल है आर्थिक स्वाधीनता का जो बिना राजनीतिक स्वाधीनता के सभव नही है। जब-तक आर्थिक स्वाधीनता नही मिलेगी, तब-तक हिंदू मुस्लिम आपस मे लडाये जाते रहेगे। अत: वे उपन्यास-कहानियो मे साम्प्रदायिक समस्या को उस तरह नही उभारते जिस तरह बाद मे कथाकारो न उभारा है। प्रेमचद हिंदू मुसलमानो को समानता की दृष्टि से देखते थे।

प्रेमचद के बाद उभरे कथाकारो ने इस समस्या को यथार्थवादी ढग से चित्रित किया। वे साम्प्रदायिकता पर प्रहार करते हुये उन कारणो को भी स्पष्ट करते है, जिससे यह समस्या अपने भयावह रूप मे उभर रही है। यशपाल ने वैज्ञानिक तरीके से इसे उभारा है। हत्या और आगजनी का सहारा लेकर धर्म जिस प्रकार फल-फूल रहा है, यशपाल उस पर प्रहार करते है। क्षुद्र राजनीतिज्ञ अपनी प्रतिष्ठा के लिये धर्म के जिस घिनौने रूप की वकालत कर रहे है, वह धर्म जनता का धर्म नही हो सकता। शासक-वर्ग धर्म का सहारा लेकर जनादोलन कुचल रहा था। अपने प्रसिद्ध उपन्यास "झूठा सच" मे वे कहते है—"क्यो कि अग्रेज शासक इस बात को खूब अच्छी तरह से जानते थे कि सब प्रशासन-व्यवस्थाओ की नीव सामाजिक—भूमि व्यवस्था पर ही होती है, किसानो की ओर से सरकार पर आते सकट को टालने का फिलहाल यही उपाय हो सकता है कि वे अपनी समस्या को साम्प्रदायिक झगड़ो मे भूले

रहे ।"[1] धर्म की शक्ति से शासक-वर्ग भी परिचित था और हमारे राष्ट्रीय नेता भी । इसलिये उन्होने अपने लाभ के लिये धर्म का भरपूर उपयोग किया । हिंदू महासभा और जमाते इस्लामी के अन्दर छुटभैये नेता नही थ, बल्कि बड और सम्माननीय नेता थे, जो जानते थे कि धर्म के नाम पर भीड इकट्ठी की जा सकती है, उस भीड को अपने लाभ के लिये सचालित और नियत्रित भी किया जा सकता है । ब्रिटिश-शासको ने इस स्थिति का लाभ उठाया । उन्होने राष्ट्रीय नेतृत्व मे दो भेद कर सदैव अन्तर बनाये रखा । हिंदू नेतृत्व और मुस्लिम नेतृत्व अग्रेजो की फूट-परस्त नीति का ही परिणाम था । यशपाल ने इसे यथार्थवादी रूप मे चित्रित किया है ।

स्वाधीनता पूर्व साम्प्रदायिक दगो के द्वारा स्वाधीन-भारत की "तमस" का चित्रण भीष्म साहनी ने अपने उपन्यास "तमस" मे किया है । उपन्यास मे व्यक्त साम्प्रदायिक उन्माद का केन्द्र-बिन्दु वह विचार है, जो डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड्स अपनी पत्नी लीजा से कहता है—"हुकूमत करने वाले यह नही देखते कि प्रजा मे कौन-सी समानता पाई जाती है । उनकी दिलचस्पी तो यह देखने मे है कि वे किन-किन बातो मे एक दूसरे से अलग हैं ।"[2] अग्रेज इस कोशिश मे रहे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता कभी न होने पाये । इसके लिये उन्होने भरसक प्रयत्न किये । "तमस" मे डिप्टी कमिश्नर का टोडी कुत्ता मुराद अली गरीब और सरल-चित्त नत्थू चमार को खरीद कर उससे सूअर कटवाता है और मस्जिद मे पटक देता है, ताकि दगे भडके । रिचर्ड्स इस व्यूह मे सफल होता है, जिसकी परिणति लगातार पाँच दिन हुआ नरसहार है । इस नरसहार मे बेदम, बेसहारा तथा राजनीति और धर्म की आग से अनजान लोग भी जलकर मर गये । भीष्म साहनी "तमस" के माध्यम से उस अधकार को दूर करना चाहते है, जो अग्रेजो ने इस देश मे फैलाया था । हमारे देश के राजनीतिक दलो का चित्र भी वे प्रस्तुत करते है, जहाँ कांग्रेसी चर्खा कातने, झाडू देने और अपनी मेम्बरी की चिता के अलावा और कुछ नही करते, लीगी मानते है कि काग्रेस हिन्दुओ की पार्टी है, उससे मुसलमानो का हित नही हो सकता, वानप्रस्थी

---

1 यशपाल—झूठा सच, पृ 80

2 भीष्म साहनी—तमस, पृ 36

जो हिन्दुओ को मुसलमानो के विरुद्ध भडकाते हैं और हथियार इकट्ठा करने का आह्वान करते है। किसी भी दल का जनता पर सीधा प्रभाव नही है। दगो को रोकने के लिये कोई दल सार्थक प्रयास नही करता। जरनेल सिंह जैसे ईमानदार आदमी की हत्या कर दी जाती है, भीष्म साहनी उस दृश्य को बडे मार्मिक ढग से उभारते है—"साहिवान, मैं आपसे कहता हूँ कि हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई है, शहर मे फिसाद हो रहा है, आगजनी हो रही है और उसे कोई रोकता नही। डिप्टी कमिश्नर अपनी मेम को बाहो मे लेकर बैठा है और मैं कहता हूँ कि हमारा दुश्मन अ ग्रेज है। गाधी जी कहते है कि वही हमे लडाता है और हम भाई-भाई है। हमे अ ग्रेज की बातो मे नही आना चाहिये। और गाधी जी का फरमान है कि पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा। मैं भी कहता हूँ पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा, हम एक है, हम भाई-भाई है। हम मिलकर रहेगे।" "तेरी माँ की " आसपास खडे लोगो मे से एक ने कहा और लाठी के एक ही भरपूर वार से जरनैल की खोपडी फोड दी। छडी कहाँ गई, और फटी हुई मूँगिया पगडी कहाँ गई और फटे हुये चप्पल कहाँ गये और फिकरा खत्म किये बिना ही जहाँ जरनैल खडा था वही ढेर हो गया।"[1] हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करने वाला, देश का विभाजन रोकने वाला, तथा अ ग्रेजो की कुटिल-राजनीति को पहचानने वाला जरनैल उन्ही लोगो के द्वारा मार दिया गया जिन लोगो के द्वारा यह दगा हुआ। भीष्म साहनी "तमस" मे साप्रदायिक दगो का जो चित्र प्रस्तुत करते है, वह हृदय विदारक है। इस प्रकार के दृश्यो की पुनरावृत्ति अब देश के किसी भी कोने मे कही भी हो सकती है, होती रही है।

शानी ने "काला जल" उपन्यास मे आजादी के बाद भारत मे रह रहे मुसलमानो की आर्थिक दशा का चित्रण किया है। इस उपन्यास मे साप्रदायिक्ता प्रकारातर से उभरकर आई है, जहाँ मुस्लिम समाज अपनी रूढियो मे जकडा रहकर अशिक्षा, गरीबी और असाध्य रोगो का शिकार हो गया है। वस्तुत ही नही इस प्रकार की स्थिति सम्पूर्ण भारत मे देखी जा सकती है। मुस्लिम नेतृत्व ने इतने लम्बे समय के बाद भी अपने समाज को चौदहवी शताब्दी से आगे नही आने दिया। अ ध-

1 भीष्म साहनी—तमस, पृ. 128

विश्वासो, कुप्रथाओ और रूढिगत मान्यताओ का वितान तानकर मुस्लिम नेता आराम से सो रहे है। साम्प्रदायिक दगो मे जो मुसलमान मरते है, वे वही गरीब लोग होते है जिन्हे दो समय की रोटी भी नही मिल पाती। ऐसे लोगो के लिये पाकिस्तान बनने और न बनने से क्या फर्क पडता है? इस उपन्यास का प्रतिनिधि पात्र मोहसिन अपने मोह भग के सदर्भ मे बब्बन से कहता है "अपने को अच्छी तरह टटोलकर देखो तो तुम खुद भी स्वीकार करोगे। क्या हम सब लोग यहाँ लादे हुये मुगालते मे नही जी रहे। और जिसे तुम राष्ट्रीयता और ईमानदारी समझ रहे हो, क्या वह सिर्फ मजबूरी नही है।"[1] शानी ने इस समस्या को आर्थिक रूप से प्रस्तुत कर महत्वपूर्ण कार्य किया है।

हिन्दू-मुस्लिम राजनीति, पाकिस्तान का उदय तथा हिन्दुस्तान मे बचे मुसलमानो की आर्थिक स्थिति को राही मासूम रजा ने "आधा गाँव" उपन्यास मे चित्रित किया है। "आधा गाँव" मे वे स्थितियाँ भी बताई गई है, जिनके कारण पाकिस्तान बना। सदियो से साथ रह रहे लोगो को साम्प्रदायिक आधार पर बाँटकर हत्या और आगजनी की राजनीति के द्वारा पाकिस्तान बनाया गया। वास्तव मे, मुसलमानो की, विशेषकर साधारण किसान, मजदूर मुसलमानो की इच्छा के विपरीत पाकिस्तान बना। "आधा गाँव" का मिक्दाद कहता है—"हम ना जाये वाले है कही। जाये उ लोग जिन्हे हल बैल से शरम आती है। हम तो किसान है, तन्नू भाई। जहाँ हमारा खेत, हमारी जमीन तहाँ हम।"[2] बावजूद इसके पाकिस्तान बना, हिन्दू-मुस्लिम सस्कृति पर प्रहार किये गये, धर्म के नाम पर बनने वाले पाकिस्तान के लिये अपने ही भाई-बहिनो का खून बहाया गया। अमीर पाकिस्तान मे भी अमीर ही रहे और गरीब जैसे यहाँ नारकीय जीवन जी रहे थे, वैसे ही वहाँ रहे। इस नर-सहार ने आपसी घृणा के अलावा और कुछ नही दिया। राष्ट्र-विभाजन और जमीदारी-उन्मूलन के बाद गगोली मे साम्प्रदायिक दगा हमारी धर्म-निरपेक्ष शासन-व्यवस्था का मजाक है। राही ने आधे गाँव की कथा यानी मुसलमानो की मानसिक, आर्थिक

---

1 शानी—काला जल, पृ 301

2 राही मासूम रजा—आधा गाँव, पृ 355

और सामाजिक स्थिति की कथा कही है। आजादी के बाद औद्योगीकरण के कारण गांव पर जो दबाव पड़ा, राही उसे गगोली के माध्यम से चित्रित करते है।

रेणु ने "परती परिकथा", रामदरश मिश्र ने "जल टूटता हुआ", शिव प्रसाद सिंह ने "अलग-अलग वैतरणी" और भैरव प्रसाद गुप्त ने "सती मैया का चौरा" आदि उपन्यासो मे इस समस्या के यथार्थ रूप को चित्रित किया है। एक प्रकार से उपन्यासकारो ने अपने उपन्यासो के द्वारा साम्प्रदायिक समस्या के कारणो की तलाश की है। एक सवेदनशील सर्जक की सार्थक पहल है यह, इसलिये महत्वपूर्ण भी है। लगातार बढती जा रही साम्प्रदायिकता के मूल मे आर्थिक शोषण से त्रस्त जन-समुदाय का आक्रोश है, जिसे सत्ताधारी अपने हित मे धर्मान्ध बना देते है। राजनेता धर्म की इस गोली को उन्ही को देकर सुला देते हैं और फिर निश्चित हो शोषण करते हैं। जनता मे व्याप्त अशिक्षा, अध-विश्वास एव निर्धनता के गढो को तोडे बिना इस समस्या पर नियन्त्रण नही किया जा सकता।

आजादी के बाद के लेखको ने इस समस्या के पीछे की क्रूर स्थितियो को पहचाना और उन्हे बेनकाब करते हुये भविष्य के लिये समाप्त करने का आह्वान किया।

□ □

साहित्यकार की राजनीतिक भूमिका

साहित्यकार की राजनीतिक भूमिका पर विचार करने से पहले यह स्पष्ट होना चाहिये कि साहित्यकार समाज का एक ऐसा प्राणी है, जो जीवन-जगत की विसगतियो को पूरी तरह देखता है, उन्हे जीता है और बिना किसी कटौती के ईमानदारी से उन्हे चित्रित करता है। आम आदमी से वह कही अलग है, तो सवेदनशील दृष्टि के कारण जो उसे आकुलता के साथ लिखाती है, जन-जीवन की बारीक स्थितियो को उभारती है और सम्बन्धो की सूक्ष्म और जटिल समस्याओ को सुलझाती है।

आम आदमी और साहित्यकार का अलगाव इस अर्थ मे नही है कि वह कोई विशिष्ट व्यक्ति है, समाज का अलग अग है, सर्वोच्च है या दैनन्दिन-जीवन की मारा मारी से ऊपर है। साहित्यकार को विशिष्ट दर्जा देने के प्रचार मे उसे समाज से काटने का षड्यन्त्र छिपा हुआ है। इस षड्यन्त्र से पूरी तरह सावधान रहकर ही साहित्यकार समाज का अभिन्न अग बना रह सकता है और अपनी अनुभूति की सघनता के द्वारा आम आदमी की परेशानियो का मार्मिक चित्रण कर अपने युग का प्रामाणिक साहित्य रच सकता है। इसलिये वह आम-आदमी होते हुये भी अपनी सवेदना के कारण उन चीजो को भली-प्रकार पहचान लेता है, जो हरेक के बस की बात नही है।

साहित्यकार को समाज से काटने का उसे अलग थलग करने का जब पर्दाफाश हो गया, तब यह भी निश्चित हो गया कि सामाजिक परिवर्तन मे साहित्यकार की महत्वपूर्ण भूमिका है और सामाजिक परिवतन का अर्थ राजनीतिक सत्ता परिवर्तन ही होता है—यह बात किसी से छिपी हुई नही है। सत्ता पर जो लोग बैठे हैं, स्वाधीन भारत

के चालीस वर्षों मे शक्ले भले ही बदली हो, उनके क्रूर और हिंसक पजो मे कोई परिवर्तन नही हुआ। समय के साथ वे और भी हिंसक होते गये। भोली जनता को शिक्षा और रोजगार के मौलिक अधिकारो से वचित किया जाता रहा, ताकि वह इसी प्रकार वधुआ बनी मूक पशु की तरह हर पाच साल बाद अपने पेट की सलवटो को अनदेखा कर गिद्धो को मास खाने का अधिकार दे दे।

इन भयावह स्थितियो मे साहित्यकार की राजनीतिक भूमिका तय होती है। वह तय करता है कि श्रीकात वर्मा की तरह आपात्काल की जननी के भाषण लिखे, उन्हे कुर्सी दिलाने के लिये पोस्टर तैयार करे, नारे लिखे और साहित्य के नाम भडेती करे या अज्ञेय की तरह अभिजात्य मौन धारण कर ले या नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, धूमिल, केदार नाथ अग्रवाल, रागेय राघव, राम विलास शर्मा और रेणु की तरह अपनी राजनीतिक भूमिका का ईमानदारी से निर्वाह करते हुये समाज को वताये कि सत्ता के दलालो की घिनौनी चालें राजनीति नही हो सकती। साहित्यकार जनता के सुख-दु ख मे भागीदारी कर उसके जनतान्त्रिक अधिकारो को दिलाने के लिये उसे सचेत बना शोषण-विहीन समाज के निर्माण के लिये ऐसी सरकार की स्थापना के लिये प्रयत्न करता है, जहाँ अन्याय, अत्याचार बिल्कुल नही हो। ओछे प्रलोभनो और दमन के भय से वह अपने मार्ग से विचलित नही होता। बल्कि जैसे-जैसे दमन वढते है, वह और जुझारू होता जाता है। इसलिये कि वह मानता है कि उसकी राजनीति वहुजन की राजनीति है, असली राजनीति है। इसी वर्ष सफदर हाशमी की शहादत ने यह दिखा दिया है कि दमन और अत्याचार के बल पर आदोलनो को दबाया नही जा सकता। सफदर की हत्या के विरोध मे जिस प्रकार साहित्यकारो, राजनीतिज्ञो और जन-सगठनो ने हत्यारी सरकार के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त किया है, उससे साबित हो गया है कि सरकारी-गुडे इस प्रकार की राजनीतिक हत्या करके बहुत दिनो तक सत्ता-भोग नही कर सकते।

इन स्थितियो मे साहित्यकार की भूमिका और भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई है। सरकारी प्रचार-तत्र और सेठो की पत्र-पत्रिकाये जिस भाषा और मुहावरे का प्रयोग कर रही है, उनके मूल मे छिपे मतव्यो

पर प्रश्न मडराने लगे है। समाजवाद, प्रगति, धर्मनिरपेक्षता, परस्पर-स्नेह, देश की अखण्डता एव स्वच्छ समाज के निर्माण के नारे उन लोगो के द्वारा भी लगाये या लगवाये जा रहे है जो मूलत इनके विरोधी है और विरोध मे ही अपनी सुरक्षा माने बैठे है। इस प्रकार यह जो स्थितियाँ हैं इनका विरोध सगठित राजनीति द्वारा ही सभव है। वह सगठित राजनीति किसानो और सर्वहारा-वर्ग के अलावा किसी की नही हो सकती। यही वह वर्ग है जो परिवर्तन की इच्छा रखता है, उसके लिये हर बलिदान देने को तैयार रहता है। इसलिये साहित्यकार जब-तक इस वर्ग से नही जुडेगा तब-तक वह किसी प्रकार के परिवर्तन को अमलीजामा नही पहना सकता। केवल मध्य-वर्ग पर लिखकर, उसके दु ख और कुठाओ को चित्रित कर हम अपनी राजनीतिक समझ को छिपाते है। यह दु ख और कुंठाओ का जनक कौन है, बगैर उस ओर इशारा किये साहित्यकार अपनी जिम्मेदारियो से बच नही सकता। प्रयोगवाद तथा नयी कविता से लेकर आज तक ये साहित्यकार सस्कृति, नैतिकता और आदर्श का भ्रम उत्पन्न कर उन ताकतो को प्रश्रय दे रहे हैं, जो शोषक-सत्ता की जडें सीचती है। मुक्तिबोध ने बहादुरी के साथ इन शक्तियो का मुकाबला किया। कविता, कहानी, उपन्यास एव डायरी मे उन्होने प्रगतिशील शक्तियो को प्रतिष्ठित किया।

मध्य-वर्ग के स्वकेंद्रित ससार की ऊब, घुटन और पीडा का चित्रण करने वाले साहित्यकारो के अलावा दूसरी धारा भी थी जो छायावाद-काल मे भी आकाशचारी न होकर, धरती के यथार्थ और राष्ट्रीयता के गीत गाती रही। बाद मे द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मजदूर-किसानो को सगठित होने और अत्याचारी सरकार को उखाड फेकने का आह्वान करती रही। यह काव्य-धारा भारतेंदु ने शुरू की थी, जिन्होने सामती-वैभव के गुणगान के विरोध मे साहित्य को जनता के वृहत्तर सुख-दु ख से जोडा और अ ग्रेजो दासता के विरुद्ध जन-जागरण किया। यही काव्य-धारा "प्रगतिवाद" मे आकर फली-फूली। भारतेंदु से आरभ हुई यह काव्य-धारा जिस रूप मे विकसित हुई, वह साहित्यकारो की राज-नीतिक भूमिका का ज्वलत उदाहरण है। इन साहित्यकारो के समक्ष एक निश्चित लक्ष्य था, अ ग्रेजी सरकार के खिलाफ जनमत तैयार करना। राजनीतिक लाभ लेना या किसी प्रकार के समझौते करना इन्होने नही सीखा था, यही उनकी राजनीति थी, जो स्पष्ट थी।

इसलिये प्रेमचद ने चालीस वर्ष की चढती उम्र मे लेखन कार्य को बधन मुक्त करने के लिये सरकारी नौकरी और बाद मे "रायसाहबी" छोडी। इन्हे सरकारी रायसाहबी और उसके वैभव से जनता के बीच रहकर उनके सुख-दु ख मे हाथ बटाना अधिक अच्छा लगा। आजादी के बाद भी यह धारा सूखी नही है। कविता और कथा-साहित्य दोनो मे यह पूर्ण रूप से उभरकर आयी है। जनता को अनदेखा कर अपने ही दु ख मे डूबे साहित्यकारो के लिये यह साहित्य उस चुनौती के रूप मे रहा है। लघु-पत्रिकाओ का प्रकाशन, नुक्कड नाटक, नुक्कड कवि-सम्मेलन, पोस्टर और अन्य अनेक जन-सुलभ साधनो से इन साहित्यकारो ने जनता के बीच अपनी पैठ कायम की है। और सकीर्ण एव साम्प्रदायिक राजनीति के विरुद्ध जनता को चैतन्य किया है। साहित्य का यह महत्वपूर्ण काम है, जिसे अनदेखा नही किया जा सकता। सुस्पष्ट राजनीतिक समझ के अभाव मे यह काम हो भी नही सकता।

गोर्की, लू शुन, भारतेंदु तथा प्रेमचद ने अपनी राजनीतिक समझ को जनता के बीच रहकर विकसित किया। गोर्की का "माँ" उपन्यास, लू शुन की कहानियाँ एव छोटे-छोटे अखबारो मे लिखे गये लेख, भारतेंदु की मुकरियाँ और नाटक, प्रेमचद का कथा-साहित्य एव लेख जनता के निकट होने और उसे निकट लाकर असली राजनीति समझाने के सार्थक प्रयास है, जो साहित्यकारो की राजनीतिक भूमिका को रेखाकित करते है। यथार्थ की गहरी पकड ही इस सोपान तक ले जाती है। जो लेखक सामाजिक यथार्थ से मुह मोडकर व्यक्ति-यथार्थ का चित्रण करता है, वह बडा लेखक नही हो सकता। बडा लेखक वही होगा, जिसे सामाजिक यथार्थ की गहरी पकड होगी।

प्रेमचद के बाद यह काम यशपाल, अमृतराय, रागेय राघव, रेणु, नागार्जुन, घूमिल, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध एव शमशेर बहादुर सिह आदि ने पूरा किया। सही राजनीतिक समझ को इन्होने दुनिया के सामने रखा, सही और गलत राजनीति का अ तर एव उसके परिणाम स्पष्ट किये। साथ ही यह भी बताया कि लेखक मे जब विचलन होता है, तब उसकी रचना भी जवाब दे जाती है। रेणु ने अपने प्रारभिक उपन्यासो और कहानियो मे जिस दुनिया का निर्माण किया, वह यथार्थ दृष्टि का परिणाम है, परन्तु अ त मे वे जिस प्रकार

रोमानीयत के शिकार हुये है उससे रचना का महत्व कम हुआ है। दूसरी ओर यशपाल, भैरव प्रसाद गुप्त, नागार्जुन आदि के उपन्यासो मे समस्या जिस रूप मे उठी है, समाधान भी उन्ही के अनुकूल है। ये लेखक चूकि वैज्ञानिक विचारधारा से लस है, अत विचलन भी नही है।

साहित्यकार समाज का चित्र ही प्रस्तुत नही करता, बल्कि वह भविष्य के लिये आशा का दीप भी जलाता है, इसलिये उसकी समझ और उसके द्वारा निर्मित ससार दूसरो के लिये प्रेरणास्त्रोत रहे—तभी उसकी सार्थकता है। रूसी क्रांति मे "मां" की जो भूमिका है, वह किसी से छिपी नही है, अत साहित्यकार अपनी रचनाओ के द्वारा इस सामती-पूंजीवादी सरकार की क्रूरताओ का चित्रण कर साहित्य को परिवर्तन का सशक्त माध्यम बनाये—यही उसकी राजनीतिक परिपक्वता का प्रमाण होगा।

साहित्य सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बने, मानवीय सम्बन्धो की सवेदनशील दुनिया का निर्माण हो, अमानवीयताये समाप्त हो—यही तो साहित्य का उद्देश्य है। जो लेखक इस प्रकार का साहित्य रचता है वह अपनी सही राजनीतिक भूमिका निभाता है। अत राजनीति के नाम पर डरने और गलतफहमी पालने की आवश्यकता कहाँ है?

□□

अतीत और वर्तमान की रोमानी व्याख्या

खडी वोली के विकास मे जिन साहित्यकारो का विशेष योगदान है, उनमे जयशकर प्रसाद का नाम अद्वितीय है । खडी बोली के प्रथम महाकाव्य "साकेत" की भाषा को "कामायनी" मे लाक्षणिक और परिवर्द्धित कर उन्होने अनुपम कार्य किया । "कामायनी" की भाषा प्रौढ है जो प्रसादजी के गभीर अध्ययन और चिंतन का ही परिणाम है । खडी बोली की यह प्रौढता ही उसे आगे चलकर जन-भाषा का सम्मान देती है ।

जयशकर प्रसाद मूलत कवि थे, अगर इस बात को हम मानते हैं तो उनके नाटक, उपन्यास और कहानियो को हम निश्चित तौर पर द्वितीय कोटि मे रखने का जान-बूझकर प्रयास करते है । इसके साथ ही उनके निबन्ध, जो एक सधे आलोचक के साहित्य सम्बन्धी विचार है, उन्हे कहा और किस कोटि मे रखे—इस तथ्य को केवल कवि-स्वरूप के प्रति अभिभूत विद्वान भूल जाते है या भूलने का चालाक प्रयत्न करते है । शायद इसलिये कि काव्य के क्षेत्र मे उन्होने प्रसादजी की जो मूर्ति तैयार की है, वह अन्य क्षेत्रो मे आकर स्वत ही ध्वस्त हो जाती है । प्रसादजी स्वय स्व-मूर्ति-भजन करते हुये कहते है "समाज से डरो मत । अत्याचारी समाज पाप कहकर कानो पर हाथ रखकर चिल्लाता है, वह पाप का शब्द दूसरो को सुनाई पडता है, पर वह स्वय नही सुनता । आओ चलो, हम उसे दिखा दे कि वह भ्रात है ।"[1]

ऐतिहासिक घटनाओ के प्रति प्रसादजी का मोह अधिक है । उनके माध्यम से वे अतीत की व्याख्या कर वर्तमान के लिये प्रेरणा देते हैं । सामाजिक-सम्बन्धो के चित्रण मे भी उन पर वही ऐतिहासिक्ता और

1 प्रसाद की सम्पूर्ण कहानिया—विजया, पृ 24।

उसका मृत-आदर्श हावी रहता है। इसलिये वे अपने समय के कठोर यथार्थ से आँखें मूंद लेते है या पलायन कर उसे अनजान ही रहने देते है। जिस अतीत मे उन्हे गौरव दिखाई पडता है, उसी अतीत की व्याख्या के लिये यशपाल 'दिव्या" लिखते है, लेकिन उन्हे तो वहाँ नारी परतन्त्रता और क्रूर अत्याचार ही दिखाई पडते है। नारी की स्वतत्रता को कैद करने के लिये तमाम तरह के सामती षड्यत्र किये जाते है। धर्म और सस्कृति के नाम पर उसके साथ अत्याचार होते है। ब्राह्मणो की श्रेष्ठता, क्षत्रियो की वीरता और धर्म की पवित्रता 'दिव्या" को वेश्या बना देती है। यह यथार्थ था, जिससे प्रसादजी आँखे चुराये शिखर-शोभा का वर्णन करते रहे। यह आदर्श के प्रति मोह के कारण है। जिस समय प्रसादजी लिख रहे थे, उसी समय, उसी नगर मे प्रमचद भी लिख रहे थे। लेकिन दोनो मे जमीन-आसमान का अन्तर है। एक आदर्श की नकली दुनिया का चित्रण करते है और दूसरे यथार्थ का मार्मिक चित्रण। यह अन्तर सामाजिक विसगतियो की सूक्ष्म पकड और सक्षम अभिव्यक्ति का अन्तर है।

"ग्राम" (1911) प्रसादजी की पहली कहानी है। जिसमे एक महाजन जमीदार की सारी जमीन हडप जाता है। अन्त मे उस महाजन का बेटा मोहनलाल कई वर्षो बाद गाव आता है, तो उसी जमीदार की पत्नी से भेंट होती है, जो अपनी गरीबी के दिन पास के गाव मे काट रही थी। जमीदार की पत्नी रात मे महाजन मोहनलाल को अपना अतीत बताती है, उसे नही मालूम कि मोहनलाल निदयी कुन्दनलाल का बेटा है। लेकिन प्रसाद का आदर्श मोहनलाल पर भूत की तरह चढ जाता है "एक स्त्री की कथा सुनकर मोहनलाल को बडा दु ख हुआ। रात विशेष बीत चुकी थी, अत रात्रि यापन करके, प्रभात मे मलिन तथा पश्चिमगामी चद्र का अनुसरण करके, बताये हुये पथ से वह चले गये। पर उनके मुख पर विषाद तथा लज्जा ने अधिकार कर लिया था। कारण यह था कि स्त्री की जमीदारी हरण करने वाले, तथा उसके प्राणप्रिय पति से उसे विच्छेद कराकर इस भाति दु ख देने वाले कुन्दनलाल मोहनलाल के पिता थ।"[1] यह कहानी यद्यपि प्रसादजी की पहली कहानी है, तथापि बाद की कहानिया का उत्स इस कहानी मे निहित

---

1 प्रसाद की सम्पूर्ण कहानिया विजया, पृ 22

है। उनमे जो अतीत के प्रति मोह है, वह भावुकता प्रदान करता है। इसी भावुक स्थिति मे कहानी का अन्त होता है। मोहनलाल नही जानता था कि जिस झोपडी मे रात्रि विश्राम के लिये आया है, वह उसके पिता द्वारा पीडित जमीदार-पत्नी की है और न जमीदार-पत्नी ही यह जानती थी कि उसका अतिथि कुन्दनलाल का बेटा है। लेकिन कहानी पर प्रसादजी हावी हुये और मोहनलाल की मन स्थिति के माध्यम से पिता के प्रति घृणा और जमीदार पत्नी के प्रति सहानुभूति प्रकट कर दी। जब मोहनलाल को पता चल ही गया, तब वह कैसे शात रहता? प्रसादजी कहानी का अन्त अपनी तरह से कर आगे की कहानियो के लिये दिशा तय करते हैं। इसलिये 1929 ई० से पहले तक की ज्यादातर कहानिया इसी प्रकार "अतीत स्मृति" की कहानिया हैं, जो भावुकता के व्यामोह मे लिपटकर लिजलिजा और सतही वातावरण निर्मित करती है। अपने समय की परिस्थितियो से अनजान ये कहानिया प्रतिशोध, त्याग, बलिदान और प्रेम की दुनिया मे ले जाती हैं। यह वास्तविक दुनिया की झलक भर देती है, जहा अन्याय, अत्याचार है, स्त्री की दुर्दशा है, जगल राज है लेकिन अतीत ने इस प्रकार जकड रखा है कि उन्हे यथार्थ मे कहने का विवेक उत्पन्न नही होता। इसलिये वे जिस रूप मे सामने आती है, वह रूप अपरिचित और दूसरी दुनिया का लगता है। उस पर विश्वास नही जमने पाता। "रसिया बालम", "मदन मृणालिनी", "गुदडी मे लाल", "अघोरी का मोह", "पत्थर की पुकार", "पाप की पराजय", "करुणा की विजय", "कलावती की शिक्षा" आदि कहानियो के नामो से ही लगता है जैसे "पचतत्र" और "हितोपदेश" की कहानियो के नाम पढ रहे हो। कहानिया पढकर लगता है जैसे किसी पेशेवर उपदेशक का भाषण सुना हो। "पत्थर की पुकार" कहानी मे वे साहित्य पर विचार करते हुये कहते है "अतीत और करुणा का जो अश साहित्य मे हो, वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।"[1] कहानिया पढकर उनके विचारो से साक्षात्कार होता ही है, जहा करुण-अतीत पर प्रसादजी कठ अवरुद्ध कर लेखनी चलाते हैं।

एक ही समय और एक ही स्थान के दोनो लेखक विचारो मे कितने भिन्न हैं, यह बडा दिलचस्प तथ्य है। प्रेमचद आर्य समाज से अपनी

1 प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियां—पत्थर की पुकार, पृ 88

साहित्य-यात्रा आरभ कर गाधीवाद और बोल्शेविक-क्राति से स्वय को जोडते हैं और साहित्य को परिवर्तन का सशक्त माध्यम बनाते है, लेकिन प्रसादजी 1930 के बाद भी पूर्णतया समाज से जुड नही पाते । इसलिये उनमे समाज की धडकन नही है । निम्न-वर्ग के पात्रो के चित्रण के समय उनकी यह कमजोरी विशेषत उभरकर आती है । उनके आभिजात्य-सस्कारो की जकडन निम्न-वर्ग के पात्रो के प्रति सिर्फ करुणा बिखेरती है, उनके साथ तादात्म्य स्थापित नही कर पाती । पात्रो की दयनीय स्थितियो की फेहरिश्त गिनाने के बाद भी वह विश्वसनीयता नही बन पाती, जो वास्तविक जगत के सूक्ष्म चितेरे प्रेमचद बनाते है । इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि प्रसादजी अपने पात्रो की तरह स्वय भी द्वद्व और अनिर्णय की स्थिति मे जीते हो । वाराणसी के जिस परिवार मे वे पले-बडे हुये वह सामान्य परिवार नही था । उनके बडे भाई अपने सामने बैठाकर उन्हे जो खाना खिलाते वह इस दयनीय ससार की भूख और गरीबी की ओर देखने ही नही देता था । प्रसादजी के बेटे रत्नशकर प्रसाद ने उस खाने का वर्णन करते हुये लिखा है—"वह अधिक से अधिक घी खिलाते, पानी और चावल कम लेने देते थे । प्रात डेढ पाव बादाम, पाव भर घी और पाच सेर दूध का हरीरा, दिन मे पाव भर से डेढ पाव तक घी, तीसरे पहर दो ढाई सेर बेदाने का रस और सायकाल व्यायाम से पहले डेढ पाव बादाम की ठडाई और रात मे आध सेर-तीन पाव मलाई के साथ पूरिया खाने के बाद, पाच सेर दूध के अधावट से दैनिक भोजन सूत्र की समाप्ति करनी पडती । इसमे कमी होना उनके अग्रज को सह्य न था और डाट सुननी पडती ।"[1]

प्रसादजी के सदर्भ मे इस प्रकार की बाते करना कुछ लोगो को बुरा लग सकता है, लेकिन यह उदाहरण जो एक तथ्य है, मैंने जान-बूझकर दिया है ताकि प्रसादजी की सवेदना की खोज की जा सके । "कामायनी" और उनके नाटको की लोकप्रियता के बाद कहानिया पढने को मन होना स्वाभाविक है । लेकिन कहानिया पढकर वह प्रौढ-ससार नही मिलता जो कामायनी मे है, नाटको मे है । "कामायनी" का मनु और नाटको के राजे-महाराजे यहा रूप बदलकर आते हैं और प्रसादजी

---

1 रत्नशकर प्रसाद—पिताजी घर मे—"युग प्रवर्त्तक जयशकर प्रसाद", प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1966, पृ 41

की भाषा में बोलकर चले जाते हैं। "स्वर्ग के खण्डहर में", "सिकंदर की शपथ", "चितौर उद्धार", "जहांनारा" एवं "अशोक" जैसी कहानियों में देवताओं को पवित्र भूमि भारत और उसे अपवित्र करने वाले म्लेच्छों के विरुद्ध।प्रसादजो हिंदू-हिंदुस्तान की जय-पताका लहराते हैं।—"मैं ब्राह्मण हूं, मुझे तो अपने धर्म-प्रतिथिदेव की उपासना का पालन करना चाहिये। परतु यहां ....नहीं–नहीं, ये सब विधर्मी दया के पात्र नही। परंतु यह दया तो नही—कर्त्तव्य करना है।"[1] "भारत के सपूत, हिंदुओं के उज्ज्वल रत्न छत्रपति महाराज शिवाजी ने जो अध्यवसाय और परिश्रम किया, उसका परिणाम मराठों को अच्छा मिला।"[2] "हिंदुओं का सूर्य मेवाड़-गगन में एक बार फिर उदित हो।"[3]

प्रसादजी की प्रौढ कहानियों की मूल वात यह है कि वे दो मनोभावों की टकराहट को बखूबी उभारते हैं। सधे हाथों से लेखनी पाठक के मन पर वेदना का इतिहास लिखती है। उनकी प्रौढ़ कहानियों में ममता, व्रत भंग, आकाशदीप, पुरस्कार और गुडा के कथ्य मनोभावो के द्वंद्व को चित्रित करते है। ममता, राधा, चम्पा, मधूलिका का स्वतंत्र विकास हुआ है, संवेदना की सघनता है, आत्म-सापेक्ष न होकर समाज सापेक्ष जोवन दर्शन है, किन्तु अनिर्णय को स्थिति और अत्यधिक भावुकता के कारण ये नारी पात्र जोवन में फूटे घड़े की तरह खाली होते रहते हैं। यह द्वद्व सुनने में अच्छा लगता है, प्रेम की पीड़ा का एक संसार रचता है, लेकिन उस संसार में नुकसान स्त्रियों को ही भुगतना पड़ता है। प्रेम जीवन के लिये अपरिहार्य है, परन्तु प्रेम से भी अधिक या कहें प्रेम के साथ किन्तु प्रेम से पहले राष्ट्र-प्रेम अपरिहार्य है। राष्ट्र-प्रेम सामाजिक कर्त्तव्य को श्रेणी में आता है, जिसे प्रसादजी सर्वाधिक महत्व देते हैं। इसीलिये उनकी श्रेष्ठ और कालजयी कहानियों मे यही तथ्य बार-बार केंद्रीय भाव बनकर आता है। पुरस्कार की मधूलिका, आकाशदीप की चम्पा एव देवरथ की सुजाता के अतिरिक्त गुण्डा के नन्हकू सिंह भी आजीवन निश्च्छल एवं पवित्र प्रेम के लिये अपना जीवन देते हैं। आजीवन विपम परिस्थितियों में रहकर ये पात्र अपने प्रिय के प्रति दुःखकातर है। प्रेम की जिस आंतरिक कसक का वर्णन प्रसादजी करते

1. प्रसाद की सम्पूर्ण कहानिया, ममता, पृ. 117
2. प्रसाद की सम्पूर्ण कहानिया, गुलाम, पृ. 50
3. प्रसाद की सम्पूर्ण कहानिया, चित्तौर उद्धार, पृ. 38

है, वह पात्रो को मनुष्येतर बनाती है। देवरथ की सुजाता का आर्यमित्र के प्रति प्रेम—"सुजाता, स्पष्ट कहो, क्या तुम मुझसे प्रेम नही करती हो।"

"करती हू आर्यमित्र। इसी का दु ख है। नही तो भैरवी के लिये किस उपभोग की कमी है।"[1] आकाशदीप की चम्पा का अपने पिता के हत्यारे बुधगुप्त के प्रति प्रेम—"मै तुम्हे घृणा करती हू, फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हू। अधेर है जलदस्यु। मै तुम्हे प्यार करती हू।"[2] पुरस्कार की मधूलिका द्वारा राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करने के बाद अपने प्रेम के लिये उत्सर्ग महत्वपूर्ण है—"राजा ने कहा—मेरी निज की जितनी खेती है, मै सब तुझे देता हू। मधूलिका ने एक बार बदी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—मुझे न चाहिये।—अरुण हस पडा। राजा ने कहा—नही, मै तुझ अवश्य दूगा। माग ले।

तो मुझे भी प्राण दण्ड मिले।—कहती वह वदी अरुण के पास जा खडी हुई।"[3]

यह प्रेम का उत्कृष्ट रूप है, जो प्रसादजी की इन कहानियो के अलावा "गुण्डा" मे और ज्यादा गहराई के साथ व्यक्त हुआ है। स्त्री-पात्रो के लिये प्रेम की अथाह भावुकता मे डूबकर अपना जीवन-बलिदान कर देना सगत लगता है। लेकिन पुरुष द्वारा इस प्रकार के पवित्र प्रेम का निर्वाह कहानी को कालजयी और नन्हकू सिह जैसे जीवत पात्र को जन-कठहार बनाता है। महारानी पन्ना के प्रति असीम स्नेह के बावजूद उनका महाराजा बलवत सिह के साथ विवाह हो जाने पर नन्हकू सिंह के मन मे पीडा कसकती रही, जिसे वे दुलारी से कहते है—"दुलारी। जीवन मे आज यह पहला ही दिन है कि एकात रात मे एक स्त्री मेरे पलग पर आकर बैठ गई है। मै चिरकुमार। अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिये सैकडो असत्य, अपराध करता फिर रहा हू और पन्ना।... किन्तु उसका क्या अपराध। अत्याचारी बलवत सिंह के कलेजे मे बिछुआ मै न उतार सका।"[4] काशी नरेश को अग्रेजो द्वारा

---

1. प्रसाद की सम्पूर्ण कहानिया, देवरथ, पृ 328
2. प्रसाद की सम्पूर्ण कहानिया, आकाशदीप, पृ 112
3. प्रसाद की सम्पूर्ण कहानिया, पुरस्कार, पृ 260
4. प्रसाद की सम्पूर्ण कहानिया, गुण्डा, पृ. 321

बंदी बनाये जाने की खबर सुनकर नन्हकू सिंह को पन्ना और अपने प्रेम की याद आई वह पागल हो उठा। पन्ना और राजा चेतसिंह को महल से निकाल कर सुरक्षित स्थान पर पहुंचाने के लिये वह अपना जीवन दे देता है। "नन्हकू सिंह ने ललकारकर चेतसिंह से कहा"—आप क्या देखते है। उतरिये डोंगा पर। उसके घावों से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलंगे भीतर जाने लगे थे। चेतसिंह ने खिड़की से उतरते हुये देखा कि बीसों तिलंगों को संगीनों में वह अविचलित होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टान सदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त को धारा बह रही है। गुण्डे का एक-एक अंग कटकर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुण्डा था।"

प्रसादजी की सत्तर कहानियों में "गुण्डा" कहानी सर्वश्रेष्ठ कहानी है। नन्हकू बाबू का जो चरित्र-विकास हुआ है, वह अन्य कहानियों में नहीं है। देश-प्रेम और व्यक्तिगत प्रेम के लिये उत्सर्ग पुरस्कार कहानी में भी है, लेकिन जो उत्कर्ष गुण्डा में है वह पुरस्कार में नहीं। पन्ना के बगैर कहे, पन्ना और उसके बेटे तथा उसके राज्य की रक्षा के लिये अपनी जान देने वाले नन्हकू सिंह बचपन को प्रीत का निर्वाह करते हैं। बहादुरी के साथ जीवन को प्रेम की बेदी पर चढाने वाले नन्हकू सिंह अमर व्यक्तित्व के रूप में कहानियों में सदैव अग्रणी हैं।

प्रारंभिक कहानी "ग्राम" से लेकर "सालवती" तक जयशंकर प्रसाद की कहानी-कला मे निरंतर प्रौढता आई है। मानवीय सम्बन्धों में त्याग, बलिदान और देश प्रेम के संदेश देती ये कहानियां प्रेमचंद से अलग रास्ता बनाती है। यद्यपि यह रास्ता बहुत साफ नहीं है, लेकिन उस युग में कथा साहित्य के क्षेत्र में अपना व्यक्तित्व उभारने के लिये प्रसादजी को मजबूरी थी। उनमें सामाजिक—यथार्थ की सूक्ष्म पकड़ नहीं थी, इसलिये वे अलग हुये और व्यक्ति-सम्बन्धो में राष्ट्र-हित को महत्ता प्रदान कर उसे उत्कृष्ट स्थान दिया। कविता में जो छायावादी-मानदंड थे, उन्हें कहानी में अलग करने का प्रयत्न किया, लेकिन उससे मुक्ति उपन्यासों में ही मिली। उनके तीनो उपन्यास रोमानीपन के बावजूद यथार्थ की भूमि पर खड़े हैं। कविता की स्वच्छन्दता, नाटकों की ऐतिहासिकता, उपन्यासों की सामाजिकता और अपने कठोर जीवन अनुभवो के बल पर वे कहानियों का संसार सृजित करते हैं। इन चार स्तम्भों में ही उनकी क्षमता निहित है। यही सीमा भी हो सकती है। □□

नागार्जुन के उपन्यासो मे राजनीतिक चेतना

स्वतत्रता-बाद के भारत की ग्रामीण स्थितियो को वैचारिक ग्राधार पर विश्लेषित करने का महत्वपूर्ण कार्य नागार्जुन ने ग्रपने उपन्यासो मे किया है। गाँव की सच्चाई ग्रौर चालाकी, सघर्षपूर्ण जिन्दगी तथा ग्रारामतलबी के लिये कुटिल चालो को उन्होंने विश्वसनीय ढग से उभारा है। जाति ग्रौर धर्म से ग्रलग हटकर गाँव की गरीबी ग्रौर ग्रन्य समस्याग्रो का समग्र विश्लेषण किया है। उनसे कुछ छिपा नही रहता। सूक्ष्म दृष्टि जमीदार, किसान एव मजदूरो के साथ महाजन की बही को भी नही छोडती। शोषण ग्रौर ग्रन्याय के रेशे-रेशे को कलात्मक ढग से चित्रित कर वे उस गाँव की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं जिसके बारे मे हमारे राजनेताग्रो ग्रौर नगर की ठडी हवा खा रहे बाबू लोगो के मन मे स्वर्गिक गाँव की छवि बसी हुई है। नागार्जुन के उपन्यास इस स्वर्गिक धारणा को ध्वस्त कर गाँव को उसकी सम्पूर्णता मे उभारते हैं, जहाँ नगर की चतुराई ग्रौर कुटिलता ने उसकी सहज जिन्दगी को डस लिया है।

1950 के बाद यानी कि ग्राजादी की जडें जमने के बाद हिन्दी कथा साहित्य मे दो प्रकार की धारायें बहने लगी। एक पश्चिमी ऊब, घुटन ग्रौर सत्रास से निकली थी तथा दूसरी भारतीय ग्रामीण जीवन की विषम परिस्थितियो से। नकलो ग्रौर ग्रसली दुनिया का पार्थक्य उस समय के साहित्य मे विशेष रूप से देखा जा सकता है। नागार्जुन का "बलचनमा" (1952) ग्रसली दुनिया, ग्रपनी देखी, समझी ग्रौर ग्रनुभूत दुनिया की सच्ची कथा कहता है, जिसमे न परिस्थितियो की भयावहता से घबडाहट है, न भय, न सत्रास ग्रौर न घुटन। सघर्ष की ग्रजस्र धारा है, जो ग्राजादी के बाद ग्राई गदगी को साफ करती है। इसलिये "बलचनमा" का महत्व निर्विवाद है।

"बलचनमा" के बाद फणीश्वरनाथ रेणु का "मैला आँचल" (1954) इसी परम्परा की आगे की कड़ी है। अचल विशेष की सूक्ष्म एव व्यौरेवार जानकारी के लिये यह परम्परा महत्वपूर्ण है। "मैला आँचल" की लोकप्रियता ने उन लोगो का भी ध्यान आकर्षित किया, जो गांव से जुड़े होने के बाद भी नगर की चकाचौंध मे खो गये थे। यश और प्रसिद्धि के लिये हिन्दी मे ग्रामीण-जीवन पर इसके बाद खूब लिखा गया। लेकिन जो स्थान "बलचनमा" और "मैला आँचल" का है, उसे फिर कोई नही पा सका। "मैला आँचल" प्रसिद्धि मे "बलचनमा" से भी आगे निकल गया। लेकिन अब पानी थिरा गया है और पुन गभीर चिंतन के बाद विद्वानो की दृष्टि "बलचनमा" पर टिक गई है। रेणु रोमास और भावुकता के साथ घटनाओ का समावेश करते है। इसलिये उनमे दृष्टि का वह पैनापन नही है, जो नागार्जुन मे है। नागार्जुन उपन्यास को रोचक बनाने के लिये प्रेम आदि को नही लाते, वे किस्सा-गोई के लिये भाषा और पात्रो की शारीरिक बनावट की मजाक भी नही उडाते बल्कि अन्याय-अत्याचार के विरोध मे चेतना को झकझोरते है। पाठक को भरमाते नही है, बहकाते भी नही, पूरी तल्खी के साथ वर्ग-सघर्ष मे स्थितियो का विश्लेषण करते हैं। शोषको के वर्ग-चरित्र और उनके व्यक्तित्व के दुमुहेपन को उभारते है। रेणु मे जो रोमानियत है, उसके कारण भटकाव भी है। प्रेम सम्बन्धो मे वे रस लेते है, लम्बे-लम्बे वर्णनो मे उनका मन रमता है, ऐसा नागार्जुन मे नही है। यह अन्तर विचारधारा का अन्तर है, जिसे नजरअदाज नही किया जा सकता।

नागार्जुन की मार्क्सवादी विचारधारा किसी से छिपी नही है। मार्क्सवाद जीवन को समझने की कुजी है। अपने जीवन-अनुभवो को उन्होने वैज्ञानिक विचारधारा के आलोक मे देखा-परखा और लिखा। इसलिये उनके पात्र निम्न-वर्ग के पात्र है। स्वतन्त्रता-पूर्व गाँव की जो स्थिति थी, उसका एक छोर "होरी" है तो दूसरा "बलचनमा"। होरी द्वितीय विश्वयुद्ध के काले बादलो के नीचे फैले अधकार से मौन-युद्ध करता मर जाता है, लेकिन बलचनमा स्वतन्त्रता से ठीक पूर्व का है, उसकी स्थितियाँ उसे मौन नही करती, मुखर करती है। उसका विकास होता है—"बलचनमा अनेक शोषण और अन्यायो को भोगता हुआ

अपने नगे, भूखे श्रम के बलबूते पर चरवाहे से बहिया (पुश्तैनी गुलाम बहिया से काँग्रेसी वालंटियर, स्वयं सेवक, नौकर से खेत मजदूर, ह मजदूर से किसान और किसान से किसान नेता बनता है। उसका ऐ रूपांतरण सीमित जीवन के तमाम खंडांशो को भोगने के साथ-साथ होता है। साथ-साथ वह सही और गलत सम्बन्धों की पहचान करता है यह पहचान ही उसकी राजनीतिक-सांस्कृतिक चेतना को जन्म दे है।"[1] बलचनमा के इस गुणित विकास में ही नागार्जुन वर्ग-संघर्ष विकास करते हैं, बलचनमा को मजबूत करते हैं।

स्पष्ट विचारधारा के साथ लिखा गया "बलचनमा" उपन्य केवल बिहार ही नही सम्पूर्ण भारत के किसान-संघर्ष की कहानी कह है। जमींदारों के अत्याचारों को मूक-पशु की तरह सहते-सहते विर के स्वर उभरते हैं। आजादी के लिये किया जा रहा संघर्ष और उस माल-उड़ाते भद्र-काँग्रेसी जमींदारों की असली स्थिति को देख लेने बाद "बलचनमा" की आखें खुलती हैं, चेतना विकसित होती है। जि आजादी की प्राप्ति के लिये सारा भारत संघर्ष कर रहा है, बलिदा हो रहा है, उससे गरीबों का भला नही हो सकता, यह बात उस समझ में आ जाती है, वह अपने फूलबाबू के पास रहकर सत्याग्र देश-प्रेम और गाँधी-भक्ति का नंगा नाच देखता है। और इस निष्क पर पहुँचता है कि "स्वराज मिलने पर बाबू भैया लोग आपस में दही मछली बाँट लेंगे। ये लोग आज मालिक बने बैठे हैं, आगे त्तर माल वही उड़ावेंगे। हम लोगों के हिस्से सीठी ही सीठी पड़ेगी।"

बलचनमा का यह निष्कर्ष आज स्वाधीनता के चालीस वर्ष ब और भी अधिक सटीक हो गया है। सच्चा स्वराज्य उन्ही का है, ज अंग्रेज-राज में भी अंग्रेजों के कृपा-पात्र बनकर धनपति थे या स्वाधीनत के बाद जिन्होंने नैतिकता, देश-प्रेम और स्वाभिमान को खूंटी पर टां दोनो हाथो से गरीबों का खून पिया था। गाँवों में बढ़ती खेतिह मजदूरों की पंक्तियाँ, गरीबी, बेकारी और बीमारी में प्रति-पल द तोड़ते ये लोग स्वराज्य का अर्थ क्या लें। यही कि फूलबाबू जैसे जमींदा

---

1. रमेश कुंतल मेघ—क्योंकि समय एक शब्द है, पृ. 281
2. नागार्जुन—बलचनमा, पृ. 155

काग्रेस में धुसकर और अधिक भ्रष्टाचारी बन गये है। जमीदार कभी-कभी थोड़ी-सी दया भी दिखलाता था ताकि गाँव मे उसके प्रति घृणा न फैले, लेकिन काग्रेस मे जाने के बाद उन्हे मानो लूटने का लाइसेंस ही मिल गया हो। फूलबाबू के प्रति अपनी श्रद्धा-भाव प्रगट करते हुये बलचनमा कहता है—"मुझे यह भी भरोसा था कि फूलबाबू जब महात्मा के चेला बन गये हैं, तो हमारे मालिक को इस जोर-जुलुम के लिये दो बात वह जरूर कहेगे। महात्मा गांधी न बड़े लाट से डरते हैं न छोटे लाट से, न सरकार से न अमला से। गरीबो का पक्ष लेते हैं। फूलबाबू उन्ही गांधी महात्मा के चेला होकर मेरे लिये क्या इतना भी नही करेंगे कि अपने फूफा-फूफी को जरा समझा दे।"[1] बलचनमा का यह विश्वास तुरत ढेर हो जाता है, जब वह फूलबाबू के असली रूप को देखता है—"मगर फूलबाबू ने यह कहकर यही बात खतम कर दी कि तुम्हारा तो आपस का झगडा है, बहिया-महतो का। इसका निबटारा भी तुम्ही दोनो कर लोगे। इसमे मेरी कोई जरुरत नही। जा, जाकर अपने मालिक के ही पैर पकड़। वह तुझे माफ कर देगा।"[2] फूलबाबू यहाँ गाँधी जी की उस बात को ही दुहराते है, जहाँ वे कहते है कि मजदूर को मिल मालिक का और किसान को जमीदार का हृदय जीतना चाहिये। गाँधी जी की इस चाल को फूलबाबू जैसे गाधीवादी समझ नही पाते, जबकि बलचनमा जैसे अनपढ खेतिहर-मजदूर को इस बात के अंदर छिपी चालाकी समझ मे आ जाती है और वह हैरान रह जाता है कि मालिक लोगो के पैर पकड़ने से क्या मिलेगा, सिवाय जूतो के। बलचनमा संघर्ष से सीधा जुड़ता है, इसलिये उसकी दृष्टि भी साफ है। वह अपने-पराये तथा मित्र और दुश्मन को अच्छी तरह समझता है।

किसान सभा की स्थापना कर नागार्जुन भारतीय किसान मे चेतना का शखनाद करते हैं। सदियो से दबे-कुचले छोटे-छोटे किसान उठकर सीधे खड़े हो जाते हैं और कह उठते है—"जमीन किसकी—जोते बोये उसकी। इक्लाब जिंदाबाद—जिंदाबाद।" जमीन पर मजदूरो और छोटे किसानो का यह मालिकाना हक, उन्हे शोषण और अन्याय के विरुद्ध लड़ने की शक्ति देता है। नागार्जुन समझते है कि अपने अधिकार

1. नागार्जुन—बलचनमा, पृ. 92
2. नागार्जुन—बलचनमा, पृ 94

के लिये लडना होगा, लडने के लिये सगठन की आवश्यकता है और सगठन किसान-सभा ही हो सकती है। किसानो मे इस मत्र ने प्र फूंक दिये, वह लाल झडे के नीचे साहस और पराक्रम के साथ आ ह हुआ। बलचनमा, ताराचरण, दयानाथ, कपिल और वीरभद्र सघर्षशील पात्र हर अन्याय और दमन के विरुद्ध खडे है, नागार्जु उन्हे वैचारिक आधार दिया है। जीने के लिये लडने की शक्ति दी रेणु ने उसी अचल से कालीचरण, बालदेव, बावनदास, विश्व प्रसाद, जितेंद्र मिश्र जैसे पात्र दिये हैं, जो बलचनमा, मधुरी, ताराच एव अन्य जीवत पात्रो की बराबरी नही कर पाते। नागार्जुन का स वैचारिक सघर्ष है, इसलिये उसमे विजय चाहे दूर क्यो न हो, *आवश्यक। लेकिन रेणु की भावुकता विजय-यात्रा मे फिसलन* करती है।

राजनीतिक दृष्टि से विचार सम्पन्न नागार्जुन के उपन्यासो के प हर जगह अटूट है। पुरुष और स्त्री पात्रो मे वे कोई अतर नही करत इसीलिये "वरुण के बेटे" की मधुरी का सघर्ष स्त्री-पुरुष मे नही ब जा सकता। वह अन्याय के विरुद्ध सघर्ष करती है, उस गढ-पोखर बनाये रखने के लिये जी-जान से तैयार होती है, जो उनके जीवन-या का साधन है। जीवन से अधिक सुन्दर और महत्वपूर्ण कुछ भी नही है जब जीवन का आधार ही छिनने लगे, तब लडने के अलावा रह ही व जाता है। "पाने के लिये सारी दुनिया और खोने के लिये सिर्फ जजी कार्ल मार्क्स का यह सिद्धात वाक्य उसका प्रेरक बनता है। गढपोर के लिये जो स्वप्न मछुआरो ने बुने थे, उनको साकार करते हुये नागा कहते हैं—' मोहन माझी के स्वप्न थे कि गढपोखर का जीर्णोद्धार हो आगे चलकर और तब मलाही गोढियारी के ये ग्रामाचल मछली पाल व्यवसाय का आधुनिकतम केंद्र हो जायेंगे। वैज्ञानिक प्रणाली से य *मछलियां पाली जायेंगी। पूस से लेकर जेठ तक प्रति वर्ष अच्छी से अच* मछलियां अधिक से अधिक परिणाम मे हम निकाल सकेंगे। एक-ए सीजन मे पचास-पचास हजार रुपयो तक की आमदनी होगी। मला गोढियारी का एक-एक परिवार गढपोखर की बदौलत सुखी-सम्पन्न जायेगा। विशाल जलाशय की इन कछारो में हम किस्म-किस्म कमलो और कुमुदिल्यो की खेती करेंगे। पक्की ऊंची भिडो पर इकतल सेनिटोरियम बनेगा, फिर दूर पास के विद्यार्थी आ-आकर यहां छुट्टि

मनाया करेंगे।"[1] लेकिन जमीदारी उन्मूलन के बाद जमीदारो ने बेईमानी से जिस प्रकार रातो-रात जमीन बेची, उससे गढपोखर पर आश्रित मछुआरो का जीवन संकट मे पड गया। ग्राम-विकास और खेतिहर-श्रमिको के लिये आजादी के बाद भी जो कुछ हुआ, उसे "वरुण के बेटे' के मछुआरो के जीवन-सघर्ष से समझा जा सकता है। जमीदारो के लिये कॉंग्रेसी सरकार ने बेईमानी के लिये जमीदारी उन्मूलन कानून मे अनेक ऐसे छेद छोड दिये, जहाँ से वे हाथी तक निकाल ले गये। गरीबो को वही शोषण मिला। "वरुण के बेटे" अपनी इस नियति को स्वीकार नही करते। "गढपोखर" पर कब्जा होते देख वे एकजुट हो किसान सभा के माध्यम से सघर्ष की राह पर चलते है। किसान सभा के अलावा उनका और कोई साथी नही था। अत वे हिम्मत के साथ प्रस्ताव पारित करते हैं— 'प्रस्ताव द्वारा गढपोखर के तथा कथित नये मालिको को यानी सतघरा के जमीदारो को सम्मेलन ने आगाह किया था कि वे युग की आवाज को अनसुनी न करे, मलाही गोढियारी के मछुओ को गढपोखर से मछलियाँ निकालने के पुश्तैनी हक से वंचित करने की उनकी कोई साजिश कामयाब नही होगी। रोजी-रोटी के अपने साधनो की रक्षा के लिये सघर्ष करने वाले मछुये असहाय नही हैं, उन्हे ग्राम किसानो और खेत मजदूरो का सक्रिय समर्थन प्राप्त होगा।"[2] किसान सभा के नेतृत्व मे गाँव की प्रत्येक समस्या का समाधान निकले, यह नागार्जुन चाहते हैं। गाँव-गाँव मे किसान-सभा की स्थापना से जमीदारो की कुटिल चालो को कुचला जा सकेगा, नागार्जुन के उपन्यास यह स्थापना करते है। गाँव मे रहने वाला निम्न-वर्ग सगठन के बिना लड नही सकता। जमीदारो के शोषण के विरुद्ध यह एकजुट लडाई है, जिसकी मशाल सम्पूर्ण भारतवर्ष के शोषित सर्वहारा को रास्ता दिखायेगी। प्रश्न यहाँ हार-जीत का नही है, असली प्रश्न है, मुकाबला करने का, बहादुरी के साथ सघर्ष करने का। सदियो से चली आ रही क्रूर जमीदारी प्रथा को काग्रेसी नेताओ का आश्रय मिला तो वे और अधिक मजबूत हो गये, इस पहाड से टकराना हिम्मत का काम था। बलचनमा, वरुण के बेटे, रतिनाथ की चाची एव बाबा बटेसरनाथ

---

1 नागार्जुन—वरुण के बेटे, पृ 30
2. नागार्जुन—वरुण के बेटे, पृ 107

आदि उपन्यास सघर्ष की राह मे बेहतरी की ओर बढने वाले कदमो की प्रतिध्वनिया समेटे है। मछुआरो की यह दृढता दृष्टव्य है "यह पानी सदा से हमारा रहा है, किसी भी हालत मे हम इसे छोड नही सकते। पानी और माटी न कभी बिके हैं न कभी बिकेंगे। गढपोखर का पानी मामूली पानी नही, वह तो हमारे शरीर का लहू है। जिन्दगी का निचोड है।"[1] "वरुण के बेटों" के इस आत्म-विश्वास मे "बलचनमा" की वह वसीयत है, जिसे उसने मरते दम कहा था—"कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो—धरती किसकी—जोते बोये, उसकी। किसान की आजादी आसमान से उतरकर नही आयेगी वह परगट होगी नीचे जुती धरती के भुरभुरे ढेलो को फोडकर।"[2]

सघर्ष के प्रति यह एकजुटता और विश्वास आदोलनों को आगे बढाते हैं। गाँव के निम्न-वर्ग के पात्र उठ खडे होते है, अपने अधिकारो को वे पाना चाहते है, बडी-से-बडी कुर्बानी देने को वे तैयार है, नागार्जुन इन उपेक्षित, दलित और नारकीय जीवन भोग रहे पात्रो को अपनी विचारधारा देते है, मार्ग बतलाते है, दिशा तय करते है। इसलिये नागार्जुन के उपन्यासो मे भूमि-सघर्ष जबर्दस्त है। आचलिकता के नाम पर लिखे गये अन्य उपन्यासो मे गाँव की समस्याओ का वर्णन, घबडाये हुये अकेले व्यक्ति का सघर्ष है, लेकिन विचारधारा के अभाव मे वह सघर्ष अधूरा रह जाता है और पात्र टूट जाता है। लेकिन नागार्जुन के पात्र अकेले नही लडते, अपनी अकेली समस्या या लाभ के लिये नही लड़ते, उनकी लडाई वृहद स्तर पर है। उनका सघर्ष सबके लाभ के लिये है, इसीलिये सामूहिक-एकजुटता है। नागार्जुन की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुये कवि विष्णु खरे लिखते हैं—"इसके अलावा एक और चीज मुझे जनता को देखकर नागार्जुन मे दिखाई देती है और वह यह कि उनके यहाँ जनता सिर्फ करुणोत्पादक, लाचार, असहाय, शोषित नही है। सामान्य जन की भयावह हालत का चित्रण करना बुरी बात नही है। लेकिन भारतीय जनता मे जिन्दा रहने के लिये लड़ने का माद्दा भी जबरदस्त है—नागार्जुन के यहाँ जनता सिर्फ करुणा तथा दया

---

1. नागार्जुन—वरुण के बेटे, पृ. 31
2. नागार्जुन—बलचनमा, पृ. 192

उपजाने वाली स्थिर, जड़, वहाँ रखी हुई चीज नही है, बल्कि इकट्ठा होती हुई, समूह बनती चलती, कभी थककर बैठती, लेकिन फिर उठकर आगे बढती, हमला करती, डंडों गोलियों के आगे तितर-बितर होती, नारे लगाती, घिराव तथा हड़ताल करती, जेल जाती और कभी-कभी जान देती जनता है।"[1]

नागार्जुन के उपन्यासों में राजनीतिक चेतना प्रखर रूप मे मिलती है। कही वह सगठनों की एकता के माध्यम से जमीदारों और पूंजीपतियो पर प्रहार करते हैं, उनके जन-विरोधी कार्यों की भर्त्सना करते हैं, सर्वहारा की चैतन्य बुद्धि से बड़ा आंदोलन खड़ा करते हैं, कही राज-नेताओ पर व्यग्य करते हैं, उनके जमीदार-पूजीपति प्रेम पर करारा प्रहार करते है, स्थितियों को देखकर उनका राजनीतिक समाधान तलाशते हैं और इस आजादी का जो जमीदार-पूंजीपतियों ने मिलकर अंग्रेजो से प्राप्त की, उसे जन-हित मे निरर्थक साबित कर आगे असली-आजादी के लिये सघर्ष को अनिवार्य बनाते हैं। यह नागार्जुन की अपनी विशेषता है, जनता से जुड़े रहकर, जन की आत्मा के प्रति आस्था बनाये रहकर, मुक्ति के मार्ग में विचारधारा की मशाल जलाकर संघर्ष को आगे बढ़ाना उनके उपन्यासो की जीवंतता का प्रमाण है।

□□

1. विष्णु खरे—आलोचना, अंक 56–57, पृ. 22

लेखक और लोकतंत्र

बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और इक्कीसवी शताब्दी मे पहुँचने की हडबडाहट मे "लेखक और लोकतन्त्र" विषय पर बात करना जोखिम भरा काम लग रहा है। कुछ लोग अब भी यह मानने को तैयार नही हैं कि लेखक एक सवेदनशील सामाजिक प्राणी है। वह इस ससार मे घुल-मिलकर जीना चाहता है और जीता भी है। इसीलिये वह अन्य लोगो की तरह अपने चारो ओर के परिवेश के प्रति चौकन्ना रहता है, सजग रहता है। यही सजगता उसे लेखन-कर्म से जोडती है। विस्तृत जन-समुदाय से उसका नाता अटूट होता है, वह बाह्य प्रभावो को ईमानदारी के साथ महसूस करता है और अपनी रचना मे व्यक्त करता है।

इस अतिरिक्त सजगता के कारण ही उसका चितनशील मस्तिष्क और सवेदनशील मन जीवन-जगत मे व्याप्त अमानवीयता को सहन नही कर पाता। वह ऐसे समाज की कल्पना को साकार करना चाहता है, जिसमे मानव-मात्र को जीने का अधिकार हो, 'जिसमे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण न कर सके, जिसमे जाति और धर्म के आधार पर अधिकार और सुविधाओ का बदरबाट न हो।

घूमने-फिरने, लिखने-बोलने की स्वतत्रता हो, शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार हो, साप्रदायिकता और साम्राज्यवाद का नगा नाच न हो, ऐसे लोकतत्र की कल्पना को साकार करने के लिये लेखक कलम उठाता है। वह चाहता है कि जिस समाज मे वह रह रहा है, उसमे किसी प्रकार की अमानवीयता न रहे। इस प्रकार के रचना-कर्म से जुडने के लिये वह जिन प्रक्रियाओ से गुजरता है, उसमे भी कम सकट नही हैं। इन समस्त सकटो को वह ईमानदारी के साथ स्वीकार करके आगे बढता है और मार्ग प्रशस्त करता है।

लेखक को सबसे पहले एक सामाजिक प्राणी मानना चाहिये, भद्र और अलौकिक वस्तु नही बनाना चाहिये। जिस प्रकार की अवधारणा हमारे यहा प्रचलित है कि लेखक जब लिखता है, तब वह उसकी मधुमती भूमिका होती है, जीवन-जगत के सघर्षों से उसका कुछ लेना-देना नही होता। यदि कोई जीवन-जगत के सम्बन्धो की बात करता है तो वह सरस्वती के पवित्र मदिर को अपवित्र करता है। इस प्रकार की अन्ध-भक्ति के माध्यम से साहित्यकार को जीवन-जगत से काटने का चालाक और धूर्त षड्यत्र किया जाता रहा है। और अब भी कुछ लोग है जो इस प्रकार के षड्यत्रो मे ही अपनी सार्थकता समझते है। लेखक को इन सबसे जागरूक रहकर अपने समाज को बदलने की ईमानदार कोशिश करनी चाहिये। वह जिस समाज व्यवस्था को चाहता है, वह सच्चे अर्थो मे लोकतत्र मे ही सभव हो सकती है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह इस प्रकार के अन्धे-लोकतत्र को नही चाहता, जिसमे चोर और कोतवाल दोनो को समान सुविधाये प्राप्त हो। एक को चोरी करने का अधिकार और दूसरे को आँखे बद कर टर्राने का अधिकार मिला हो। ऐसे लोकतत्र का या यूँ कहे कि इस प्रकार जनता को गुमराह करने वाली शासन-व्यवस्था का सच्चा लेखक विरोध करता है। उसकी रचनाये इस बात का प्रमाण होती है कि वह लोकतत्र के लिये क्रूर मजाक या अश्लील-भाषा का विरोध करता है। उसकी आवाज केवल अपनी ही नही होती, वरन् सम्पूर्ण पीडित मानवता की होती है।

मैं यहा अपनी बात कहते हुये लोकतत्र की परिभाषाओ के समुद्र मे गोते लगाना नही चाहता। लोकतत्र के बारे मे सभी अच्छी तरह जानते है। और यह भी जानते हैं कि लोकतत्र के नाम पर जो शासन-व्यवस्था आज हम पर थोपी गई है, वह कितनी अमानवीय और क्रूर है। सन् 1531 मे ग्रीक के चितक इलियट ने सबसे पहले लोकतत्र पर अपने विचार प्रगट करते हुये कहा था "लोकतत्र की पहली और आवश्यक शर्त है कि राष्ट्र मे रहने वाले मानव-मात्र मे समानता हो।"[1] उसके बाद अरस्तू, प्लेटो, हेमिल्टन, बेथम, जार्ज वाशिगटन एव अन्य राजनीतिक विचारको ने लोकतत्र के लिये आवश्यक माना है कि उसमे रहने वाले मनुष्य मात्र को समान अधिकार हो, समान सुविधायें हो।

---

1. इलियट—की वर्ड्स—रेमण्ड विलियम्स, पृ 82

अंग्रेजी साम्राज्यवादियो को भगाने और लोकतन्त्र की स्थापना का सपना भारतेंदु से लेकर अब-तक के लेखको ने पूरी शिद्दत के साथ साहित्य मे प्रतिष्ठित किया है। आजादी से पहले लडाई सिर्फ अंग्रेजो से थी और यह अनुभव किया जा रहा था कि भारत मे फैली अमानवीयता के लिये केवल अंग्रेज दोषी हैं। उस अंग्रेजी-साम्राज्यवादी शासन मे मुक्ति के लिये लेखक लामबद हुये और भरसक चेतना जगाने वाला साहित्य लिखा। इस साहित्य मे मूल बात यह है कि लेखक जनता की तकलीफो को बताकर उसी जनता को कहते हैं कि तुम स्वय जगो, अपने भीतर शक्ति का सचय करो और इस क्रूर शासन व्यवस्था को उखाड फेको। भारतेदु ने अपने ऐतिहासिक भाषण मे बलिया के मेले मे कहा था—"भाइयो, राजा-महाराजाओ का मुँह मत देखो, यह मत आशा रखो कि पडितजी कथा मे कोई ऐसा उपाय भी बतलावेंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढे। तुम आज ही कमर कसो, आलस छोडो, कब-तक अपने को जगली, हूस, मूर्ख, बोदे, डरपोकने पुकरवाओगे। दौडो इस घुडदौड मे जो पीछे पडे तो फिर कही ठिकाना नही है।"[1] इसी प्रकार प्रेमचद भी साहित्य का उद्देश्य बताते हुये कहते है—"अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नही है। मनोरजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक नायिका के सयोग-वियोग की कहानी नही सुनाता बल्कि जीवन की समस्याओ पर विचार करता है और उन्हे हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिये अद्भुत आश्चर्य-जनक घटनायें नही ढूढता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है। किन्तु उसे उन प्रश्नो से दिलचस्पी है जिनसे समाज और व्यक्ति प्रभावित होते है।"[2]

जिन प्रश्नो की ओर प्रेमचद ने ध्यान आकृष्ट किया है, वे प्रश्न लोकतन्त्र की स्थापना के है। ऐसे लोकतन्त्र की स्थापना के जिनमे प्रेमचद किसान-मजदूरो के शासन के स्वप्न देखते थे। जहा जॉन को हटाकर श्याम को सत्ता सौपने से ही समस्याओ की समाप्ति नही होती। प्रेमचद बडे-बडे जमीदारो को समाप्त कर जमीन के समान वितरण के पक्षपाती थे, वे चाहते थे कि ऐसी आदर्श व्यवस्था स्थापित हो, जिसमे

---

1 भारतेन्दु हरिश्चद्र—ददरी मेला मे दिये भाषण से।
2 शिवरानी देवी—प्रेमचद घर मे, पृ 88

सबके अधिकार बराबर हों। कोई जमींदार बनकर, कोई महाजन बनकर जनता पर रोब न जमा सके। ऊँच-नीच का भेद समाप्त होना चाहिये।"[1]

रूस में लोकतन्त्र की स्थापना होने पर वे भारत में भी इसी प्रकार की शासन व्यवस्था की इच्छा व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं—"रूस है जहा बड़े-बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया है। अब वहां गरीबो का आनंद है, शायद यहा भी कुछ दिनो के बाद रूस जैसा ही हो।"[2]

भारतेंदु, प्रेमचद, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, नवीन, यशपाल, नागार्जुन एवं रेणु ने जिस लोकतन्त्र की स्थापना के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन होम कर दिया, वह आज इस देश में कही भी देखने को नही मिलता। आज यह भयावह स्थिति ही है कि जितनी स्वतंत्रता सविधान में गिनाई गई थी, वे सब भूखे बच्चे के हाथ खिलौने की तरह बजती तो है, परन्तु उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर पा रही है। सत्ता मे जो भी व्यक्ति आता है, उसकी चिंता जन-समस्याओं को सुलझाने मे कम, अपनी कुर्सी बचाने में अधिक रहती है। चालीस वर्ष की स्वतंत्रता को दुधारी गाय की तरह दोनो हाथो से सत्ताधारी-वर्ग ने अच्छी तरह दुहा है। जिधर देखें समस्या ही समस्या दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में लेखक देखता है कि चारों ओर भूख, गरीबी, शोषण, कुपोषण, बेरोजगारी साम्प्रदायिकता, अत्याचार, सामाजिक कुरीतियो का नंगा नाच हो रहा है। इस वातावरण मे लेखक का दायित्व और भी बढ जाता है। वह जिस लोकतन्त्र की नीव रखना चाहता है, वह उसे पाने के लिये अपनी रचनाओं में और भी तीखेपन से लिखता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि लेखक लोकतंत्र की स्थापना के लिये किन प्रश्नों को और किस प्रकार अपनी रचना का आधार बनाये, ताकि जन-चेतना का अवलम्ब बन सके। इस संदर्भ मे मैं सेजलो माइलोज द्वारा अड़तालीसवें अन्तर्राष्ट्रीय पेन कांग्रेस मे दिये गये भाषण को उद्धृत करना चाहूंगा उन्होने लेखकों को सम्बोधित करते हुये कहा था—"लेखक का

---

1. शिवरानी देवी—प्रेमचंद घर मे, पृ. 110
2. शिवरानी देवी—प्रेमचद घर मे, पृ. 110

पहला काम है कि वह समाज की अमानवीय सरचना मे पिसते-जूभते हुये मानव की परेशानियो और सघर्षो का चित्रण करे और अपने समाज, देश और परिस्थितियो के प्रति जनता को जागरुक करे इस प्रकार काम करके लेखक क्रातिकारी परिवर्तनो के लिये दरवाजा खोलेगा, ताकि जन-समुदाय अपने-अपने सघर्ष के लिये मार्ग पा सके। परिवर्तन का मुख्य लक्ष्य सत्ता परिवर्तन ही होगा। सबसे पहले सत्ता बदले, तभी लोकतत्र कायम हो सकता है। इस बात को लोगो के मन मे भरना ही लेखक का दायित्व है। यदि इस प्रकार कार्य वही नही कर पाता तो यह लेखक की कमजोरी है।"[1] यह आवश्यक है कि अपने स्वप्नो को साकार करने के लिये लेखक उन शक्तियो को पहचाने, जो उसके लक्ष्य मे बाधक है। लेखक के पास यदि कोई सुनिश्चित और वैज्ञानिक दृष्टि नही है तो वह भटक जायेगा और पीडित-जन के लिये कोई मार्ग नही तलाश सकेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि पहले लेखक वैज्ञानिक विचारधारा को आधार बनाकर अपनी परिस्थितियो का विश्लेषण करे। वह जितना गहराई मे जायेगा, उतना ही कारगर साहित्य दे सकता है। अधिकाश रचनाओ मे देखा जाता है कि समस्याओ को उथले रूप मे प्रस्तुत कर दिया जाता है। ऐसे मे न तो रचना का कोई महत्व होता है और न लेखक का। इसलिये लेखक को चाहिये कि वह अपने आसपास की समस्याओ को देखते हुये सामाजिक, राजनीतिक, और आर्थिक परिस्थितियो को भी भली-भाति परखे।

लेखन कर्म आज और भी ज्यादा सकटमय इसलिये हो गया है क्योकि सत्ताधारी वर्ग भी आज वही भाषा बोल रहा है, जो लेखक और समाजवादी देशो का अगुआ बोलता है। समाजवाद आज भारतीय जनता पार्टी से लेकर काग्रेस तक बोल रही है। सब यही कह रहे है कि हमारा उद्देश्य समाजवाद की स्थापना है। पता नही कौन-सा समाजवाद इनका लक्ष्य है। अभी तक स्पष्ट नही है। यह अच्छा ही हुआ कि भाजपा एकात्मवाद में उतर आई, वरना धीरे-धीरे समाजवाद के प्रति भी लोगो का मन भर जाता। हमारे तथाकथित प्रगतिशील जवाहरलाल नेहरु मे जो लोग प्रगति की राह देखते थे, उन्हे आज शायद

---

1. पार्टीसन रिव्यू, पृ. 177–78

इस बात से मोहभंग हो गया होगा। समझदार वही जो समय रहते निष्कर्ष पर पहुँच जाये।

लेखक चाहता है कि लोकतंत्र ऐसा हो जहां उसके ढोंग की आवश्यकता न हो। वह वास्तविक अर्थों में हो। वास्तविक अर्थों मे लोकतंत्र तभी सभव होगा जब हर आदमी को उसका अधिकार मिलेगा। नही तो आज जो स्थिति है, वह भयानक रूप ले लेगी। इस कांग्रेसी लोकतंत्र के चालीस वर्षो बाद भी साठ प्रतिशत लोग एक समय की रोटी के लिये सुबह से रात तक जी-जान से जूझते हैं। कुपोषण के शिकार हो कुत्तों की तरह मर जाते है, लेकिन सत्ता-वर्ग उन्हे मात्र वोट समझ बगैर पांच वर्षो के पूछता ही नहीं है। यह अमानवीयता जिस लोकतंत्र में हो, उसे लेखक लोकतंत्र नही मानता। इसीलिये आजादी के कुछ वर्षो बाद ही हिंदी साहित्य मे मोहभंग की स्थिति साफ नजर आती है। फणीश्वरनाथ रेणु अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास "मैला आंचल" में एक समाजवादी कार्यकर्त्ता के द्वारा कहलाते है—"यह आजादी झूठी है, देश की जनता भूखी है।" और आगे एक पात्र कहता है—"जब तक जमींदार और मिल मालिकों को राह चलते लोग पागलों और कोढियों की तरह नही समझेंगे, तब तक वास्तविक आजादी नहीं आ सकती।" रेणु के अतिरिक्त यशपाल, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, अमरकांत, शैलेश मटियानी, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृतराय एवं रांगेय राघव आदि लेखकों में इस आत्मघाती-लोकघाती लोकतत्र के प्रति मोहभग आक्रोश के रूप मे आता है। वे चाहते है कि लोकतंत्र का आधार तो समानता पर आधारित होना है, और यहा ऐसा नही हो रहा। वे पूरी शिद्दत के साथ पीड़ित मानवता की आवाज को बुलद करते है।

लोकतत्र मे साहित्यकार को लेखन की पूरी स्वतंत्रता चाहिये। यदि कोई सरकार ऐसा नही कर पाती, तो वह लोकतंत्र का गला घोंटती है। हमारे देश में 1975 मे लगी एमरजेंसी और अब डाक पर सेंसरशिप इस बात का प्रमाण है कि सरकार नही चाहती कि लेखक स्वतत्र रूप से लिखे-पढ़े। उसे लेखकों से खतरा नजर आता है, और लेखकों से खतरा बेईमान आदमी को ही होता है, चाहे वह सत्ता मे ही क्यों न बैठा हो। आजादी की लड़ाई में लोग जेल में बंद होकर भी लिखते-पढते रहते थे, अंग्रेजो ने इस प्रकार की स्वतंत्रता दे रखी थी, यह कहना तो

भूल होगी पर कोई न कोई कारण तो थे ही कि शहीद भगतसिंह अन्तिम समय तक पढ़ते-लिखते रहे और माडले जेल में "गीता रहस्य" तक लिखा गया। पडित जवाहरलाल नेहरु ने बहुत कुछ जेलो मे ही पढा, यह बात वे सार्वजनिक रूप से कहते रहे। परन्तु आज स्वतत्र भारत मे यह सभव नही है। सरकार निरतर इस कोशिश मे है कि लोग जड हो जायें। सोचना विचारना वद कर दें। अभी हाल ही कागजो और पोस्ट वगैरह पर बढे चार्ज इस बात का प्रमाण है। सरकार के अतिरिक्त पूंजीपति समस्त प्रकाशन समूहो पर कब्जा किये हुये हैं और यह चाहते है कि एक जडता की स्थिति सदैव बनी रहे। इसीलिये लखटकिया पुरस्कार शुरू कर रखे है कि जो लेखक जनता को जितना लोभ-मोह मे फसाये रखेगा उसे ही लखपति बना दिया जायेगा। उसकी पुस्तको को छापा जायेगा, उसी की खरीद होगी और उसी को अन्य सुविधायें दी जायेंगी। मसलन प्रेस पर देश के चद पूंजीपतियो का कब्जा है, वह जैसा चाहते है, वैसा करते है। हमारे देखते ही देखते हिंदी की बडी-बडी पत्रिकायें धर्म, तत्र-मत्र, फिल्म, क्रिकेट और देह-कथा पर विशेषाक निकालने लगी। और जो पाठक वर्ग लेखक सपादको ने तैयार किया था, वह इन्होने नष्ट कर दिया। आज हिंदी की यह स्थिति है कि ईमानदार लेखको की पुस्तकें या तो प्रकाशक छापते ही नही, और छापते भी हैं तो वह माल गोदामो मे पडी सडती रहती हैं। आज से बीस वर्ष पहले जो साहित्य रेलवे और बस स्टेडो की स्टालो पर मिलता था, वह अचानक उठ गया और उसकी जगह पीत-पत्रिकाओ ने ले ली। अधाधुंध अश्लील पत्रिकाओ का व्यवसाय शुरू हो गया और सरकार चुपचाप सूंघती रही कि चलो अच्छा है, कुछ समय आराम से कटेगा।

समाचार-पत्रो मे राजनेताओ के चित्र, उनके थूकने से लेकर जुकाम तक की खबरें, धार्मिक जुलूसो की चित्रावलिया, महतो के परिचय, उनके प्रभाव क्षेत्र, उनके ऐसे भाषण जिनमे साम्प्रदायिक विद्वेष भरा हो, छपने लगे। सरकार ऐसे महतो की भक्त हो गई, सरकार पर ऐसे महात्माओ का आधिपत्य हो गया। मत्रियो और उनकी पत्नियो ने इन महात्माओ को अपना आका मान लिया और देखते-देखते लोकतत्र की पूरी कल्पना को ही साप सूघ गया। सस्कृति के नाम पर पुरस्कारो की राजनीति से लेकर भारत उत्सवो की एक अलग परम्परा शुरू हो गई, जो सामती ध्वसो को ही सस्कृति के नाम पर परोसने लगी और उसका ठेकेदार

ऐसे लोगों को वनाया गया जिनका संस्कृति से कोई दूर का भी सम्बन्ध नही था। करोड़ो रुपये खर्च करके स्वयं के अहं की तुष्टि के लिये ऐसे आयोजनों का जाल विछाये जाने की शुरुआत हो चुकी है, लेखक ऐसे दुष्कृत्यो का विरोध करते हैं। वे लोकतन्त्र में संस्कृति की अहमियत को समझते हुये इस प्रकार के फूहड़पन को नकारते हैं और ऐसे लोकतंत्र के लिये समर्पित हैं, जहां धर्म, सांप्रदायिकता और संस्कृति को वास्तविक जन के उपयोगी मान उसका उसी अर्थ में, प्रयोग किया जायेगा। सामंती ध्वंसो की राजनीति से अलग हटकर वे लोक संस्कृति का प्रचार-प्रसार कर उसे अक्षुण्ण रखने के लिये साहित्य में स्थान दे रहे हैं।

लेखक जिस लोकतन्त्र के लिये सर्जनरत हैं, उसमें जाति, धर्म, क्षेत्रीयता और भाषा की सकीर्णताओं के लिये कोई स्थान नही होगा। लोकतन्त्र मे इस प्रकार के ओछे हथकंडों को जड़ से समाप्त कर दिया जायेगा। असल मे, यह सारी चीजें आर्थिक समानता से उत्पन्न आक्रोश को दूसरा मार्ग देने के लिये है। जनता जिस प्रकार से गरीवी में पिस रही है, उसके पास समय कहां है कि वह इस प्रकार झंझटो में फंसे लेकिन सरकारी-तन्त्र, पूंजीपति-वर्ग और उसके हिमायती इस प्रकार की करतूत करते रहते है और वे इसमें सफल भी होते हैं। इसी कारण उन्होने अशिक्षा को दूर नही होने दिया है। चीन हमारे पड़ौस में है, और हमसे दो वर्ष वाद आजाद हुआ था, परंतु वहां लगभग सवको शिक्षा दे दी गई, जबकि चोन की स्थिति सन् 1949 में बहुत खराब थी। अफीमचियो को इस प्रकार से सुधारने का कार्य एक योजना के तहत किया गया जिसका परिणाम हमारे सामने है। और अपने यहां जो कुछ किया गया उसका भी परिणाम निरक्षर भट्टाचार्यो की फौज के रूप में हमारे सामने है। रही-सही कसर टी० वी० निकाले दे रहा है। पिछले दिनो दिल्ली मे हुये एक सर्वेक्षण से इस वात का पता चला कि वहां के पब्लिक स्कूलो के विद्यार्थियों के परीक्षाफलो में टी० वी० के कारण गिरावट आई है। और रहा सवाल चुंगी के प्राइमरी स्कूलों का तो इनकी हालत तो पहले ही खराब थी व अब और खराब हो गई, हो जाये, सरकार को क्या मतलव। टी० वी० का दूसरा दुष्परिणाम यह है कि इसने जिस प्रकार के कार्यक्रम बनाये है और वना रहे हैं, वह कही से भी हमारी चेतना को नही झकझोरते, न ज्ञान मे इजाफा करते हैं, कीमती समय नष्ट करने के लिये जैसे मध्यवर्गीय परिवारों पर यह थोप दिया गया

हो। इस प्रकार का षड्यंत्र सरकार जान-बूझकर करती है और जनता चुपचाप मस्ती मे अपनी समस्याओ को कुछ समय के लिये भूलकर इसके सामने बैठी रहती है। लेखक ऐसे कुचक्रो का भडाफोड करके सच्चे लोकतंत्र की स्थापना के लिये रचना करता है। वह अपने उद्देश्यो को बेबाक तरीके से बताता है।

हिंदी जगत मे सातवे दशक से लोकतंत्र के लिये लडाई ठोस और साफ हो गई है। नये लेखको ने छोटी-छोटी पत्रिकायें निकालकर अपने साहित्य को छापा और उसके साथ लोकतंत्र की स्थापना के लिये अपनी छटपटाहट को व्यक्त करने मे किसी प्रकार की कटौती नही की। लम्बी-लम्बी बहसो के माध्यम से यह स्पष्ट करने की सार्थक कोशिश की गई कि लेखक की आस्था इस लोकतंत्र मे नही है, जिसमे गरीब और गरीब होता जा रहा है, पूंजीपतियो को गरीबो का गला काटने की खुली छूट दे दी गई है, प्रेस पर कब्जा कर जनता की आवाज को दबाया जा रहा है। धर्म क्षेत्रीयता, भाषा आदि ओछी बातो को उछाला जा रहा है, राजनीति मे बेईमानी को प्रमुखता दी जा रही है, सार्वजनिक क्षेत्र से नैतिकता का सफाया किया जा रहा है, शिक्षा मे जान-बूझकर ऐसे तत्त्वो को लाया जा रहा है जिनका चरित्र और नीयत सदेहास्पद है, टी० वी०, फिल्म, रेडियो और समाचार पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से जनता को जड बनाने का षड्यंत्र किया जा रहा है, लेखक ऐसी व्यवस्था का विरोध करता है, उसका उद्देश्य उसके भेदो को खोलकर जनता को चैतन्य करना है, ताकि जनता अपनी दयनीय हालत के कारणो को जान सके और उनके उन्मूलन के लिये लामबद हो सके। लेखक जिन हालातो मे रचनारत् हैं, उससे उनकी ईमानदारी के प्रति सदेह नही किया जा सकता। सच्चे अर्थो म लोकतंत्र की स्थापना का उद्देश्य सफल हो, इसके लिये लेखक प्रतिबद्ध हैं।

□□

---

1 रेणु—मैला आचल, पृ 300

नारी शोषण और 'कब तक पुकारूँ'

"मनुष्य के लिए सर्वोत्तम सत्ता मनुष्य स्वय है। अत. प्रत्येक रूप मे उन सम्पूर्ण परिस्थितियो का अत कर देना ही अभीष्ट होना चाहिये, जिसके द्वारा मनुष्य प्रताडित, शोषित, हेय एव अपमानित होता रहता है।"[1] ये सम्पूर्ण परिस्थितियाँ पहले की अपेक्षा आज अधिक स्पष्ट और मुखर हैं, जो सम्पूर्ण मानव-जाति को पशुतर बना रही हैं। इस खुली धूप मे भी स्वार्थो का चश्मा यदि अपने सामने खडे हिंसक पशु को नही देखने दे रहा है, तो यह दोष हमारा और हमारे चश्मे का ही है, जिसकी हानि भी हमे ही उठानी पडेगी, यह निश्चित है। आज समाज मे जो भीषण परिस्थितियाँ गहराती जा रही है, वे किसी से छिपी नही है। तमाम मानवीय सवेदनाओ की दुहाई के बावजूद मानवीयता का अस्तित्व खतरे मे पड रहा है। नारी शोषण के विरुद्ध शिक्षा के प्रसार एव सब प्रकार की जागरुकताओ के भाषणो के बाद खुली आँखो से देखे तो शोषण और भी अमानवीय तथा क्रूर होता जा रहा है। पिछले दशक ने दहेज प्रथा के विरोध मे आवाज बुलद की थी लेकिन परिणाम वही ढाक के तीन पात। दहेज की माँग उसके बाद और ज्यादा बढी है, उसके न मिलने पर अब ज्यादा हत्यायें हो रही हैं। रोज समाचार-पत्रो मे बहू को जलाकर मारने की खबरे आ रही है। और हो यह रहा है कि पहले इस प्रकार की खबरे जहाँ जन को चौकाती थी, अब वह भी बद हो गया है। मानो हम सब पत्थर हो गये हो।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के लिये यह चिंता नई नही है। पहले उपन्यास "परीक्षा गुरू" से ही यह विषय हिंदी के सवेदनशील कथाकारो के लिये चिंता का रहा है। यह बात दूसरी है कि पहले-पहल इसके

1. मैक्सिम गोर्की—क्रियेटिव लेबर एण्ड कल्चर, पृ 50

निराकरण की जगह करुण-भाव अधिक मिलता है। इसका कारण यह था कि उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध तक इस प्रकार की परिस्थितियाँ थी कि वहाँ नारी-स्वतंत्रता और मुक्ति जैसी बात कल्पना थी। कल्पना भी कुछेक के लिये ही। यह सयोग ही था कि धार्मिक कट्टरता के विरोध में शुरू हुये आर्य समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसायटी एव प्रार्थना-समाज आदि समाज-सुधारक सगठनो ने नारी पर हो रहे अत्याचार का भी विरोध किया। जन-मानस मे व्याप्त जड़ता को तोडना उनका पहला काम था और वे इसमे सफल भी हुये। सती प्रथा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा विवाह एवं अन्य विवाहोपरात उत्पन्न समस्याओ के निराकरण के लिये उन्होंने अपने-अपने सगठनो का सहारा लिया। परिणामत: एक जनमत बनना आरंभ हुआ, लोगों की जड़ता टूटने लगी, जो असम्भव था, वह सभव दिखाई पड़ने लगा।

भारतेंदु काल के लेखको ने जिस तरह की आदर्श-गृहस्थी की कल्पना की थी वह निश्चय ही अपने आप मे एक उपलब्धि थी, जिसमें स्त्री-पुरुष की समानता पर विशेष महत्व दिया गया था। ये लेखक एक साथ दो स्तरों पर लड़ रहे थे—एक ओर तो अपने सामाजिक सस्कारों से और दूसरी ओर अंग्रेजी सभ्यता से उत्पन्न खतरो से। इसीलिये इन्होंने पतिव्रता स्त्री और एक पत्नी-व्रत पति की नवीन व्याख्या करके सामती-सस्कारों मे घुटती विवश नारी को बचा लिया। जिसकी स्थिति के सम्बन्ध मे डॉ० रागेय राघव ने अपने पहले उपन्यास "घरौंदे" में लिखा है—"सामती राज्य की स्त्री एक वेश्या है, घर की बेजान चीजों की स्वामिनी और जीवित मनुष्यों की दासी। आर्थिक परतंत्रता से उसे बाध दिया गया था। वह क्या जीवन है, जब अपने पर नहीं, दूसरो पर गर्व किया जाये।"[1]

सामती जुये से निकलकर भारतीय नारी जब घरों में आई, तब उसकी स्थिति पहले से बेहतर हुई। वह अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिये सजग हुई, लेकिन उसका आर्थिक आधार चूंकि कमजोर था, इसलिये वह संघर्ष करने की स्थिति मे नही आ पाई। जैसी परिस्थितियाँ मिली उन्ही मे उसे संतोष करना पड़ा। तभी तो "सेवा सदन" की सुमन

1. रागेय राघव—घरौंदे, पृ. 177

वेश्या बनती है। घर से निकाले जाने पर उसका दूसरा कोई आधार नही था। आधारहीन सुमन के सामने घृणित जीवन अपनाने के अलावा और कोई विकल्प भी नही था। यद्यपि प्रेमचद उसे अत मे "सेवा सदन" भेज देते हैं, लेकिन यह कोई उपाय नही है, इससे नारी का व्यक्तित्व और भी घटता है।

असल मे, यह दुर्भाग्य ही है कि नारी-समस्या पर जिसने भी कलम उठाई, वह थोडा चलकर ही भावुकता से लबालब हो गया और करुणा बिखेरने लगा। नारी को उन्होने कभी भी हाड-मास की स्त्री के रूप मे स्वीकार नही किया। या तो उसे पूजा की वस्तु समझा या भोग की। प्रेमचद जैसे चेतना सम्पन्न लेखक का भी यही हाल था। वे सामाजिक परिस्थितियो की विकरालता को देखकर धीरे-धीरे यथार्थवादी रूप अपनाते है, लेकिन स्त्रियो के सम्बन्ध मे उनका आर्य-समाजी मन पीछा नही छोडता। डॉ० इद्रनाथ मदान को लिखे पत्र मे वह कहते हैं—"मेरा नारी का आदर्श एक ही स्थान पर त्याग, सेवा और पवित्रता का केंद्रित होना है।"[1]

प्रेमचद की यह नारी विषयक मान्यता नारी को आर्थिक आधार प्रदान कर उसे स्वावलम्बी बनाने वाली न होकर उसे सजी-सवरी देवी बनाने की है, जिसमे दुनिया के सारे गुण हो। वह पुरुष की सेवा करे, हर विपत्ति मे अपने आदर्श के तहत त्याग का उदाहरण प्रस्तुत करते हुये "कफन" की बुधिया की तरह मरे और पुरुष उसकी मृत्यु पर उत्पन्न करुणा को भुनाते घूमे तथा कफन के लिये मिले रुपयो से मांस खा, शराब पी बेहोश हो "ठगनी क्यो नेना झपकावे" गाये। नारी के लिये यह कौन-सी सेवा, त्याग और आदर्श की कल्पना है।

प्रेमचन्द के सामने ही प्रसाद जी जिस आदर्शवादी नारी की वकालत कर इतिहास के पृष्ठो की धूल झाड रहे थे, उसका उत्तर यशपाल की दिव्या है। जिस अतीत को वह स्वर्णिम और स्वर्गिक बता रहे थे, वहाँ दिव्या आ उपस्थित होती है और सरे आम पूछती है कि बताओ आपके

---

1. डॉ इन्द्रनाथ मदान—प्रेमचद एक विवेचन, पृ 157

उस स्वर्गिक ससार मे है नारी को कोई सम्मान। कहाँ है उसकी स्वतन्त्रता। सिर्फ वेश्या बनने मे।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य मे नारी का स्वरूप कई प्रकार का है, एक तरफ जैनेन्द्र की काम कुठा से त्रस्त, इलाचन्द्र जोशी की मनोरुग्ण, अज्ञय की छद्म सामाजिकता को श्रोढ डरी सहमी सम्बन्धो को उत्सुक नारी है, तो दूसरी तरफ यशपाल की शैल और सोमा हैं, जिनके लिये सेक्स क्राति हो गई है। एक सहज स्वाभाविक रूप मे वह नही आती, जिसकी आवश्यकता उसे थी।

प्रेमचन्द और उसकी परम्परा के अन्य उपन्यासकारो ने यौन-प्रवृतियो के ऊपर वैवाहिक-बधन की पवित्रता को प्रधानता दी थी। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व पढा लिखा मध्य-वर्गीय समाज विवाह सस्था मे विश्वास रखते हुये भी इसमे माता-पिता की इच्छा को विशेष महत्व प्रदान करने को तैयार नही था। पाश्चात्य शिक्षा क प्रभाव के कारण वह अपने प्रम की चरम् परिणति विवाह मे देखना चाहता था, लेकिन समाज की विषम सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ उसके इस आदर्शवाद के मार्ग मे व्यवधान उपस्थित कर रही थी। परिणामत, आदर्शवाद एक दिखावा बनकर रह गया। नारी को जो स्थान मिलना चाहिये था, वह नही मिल पाया। यही कारण है कि "1950 ई० तक हिन्दी उपन्यास मे एक भी ऐसी नारी नही है, जो कुछ नवीन परम्पराओ का निर्माण करती दिखाई दे, जो हर आँधी तूफान मे दृढ होकर निरतर प्रगति पथ पर बढती रही हो। जो हर सघर्ष के बाद और भी अधिक सुदृढ होकर निकली हो। अपने आदर्श, विश्वास और प्रम के लिये मर जाना आसान है, पर उन्हे व्यवहार मे लाना कठिन है।[1]

डॉ० रागेय राघव का उपन्यास "कब तक पुकारूँ नारी शोषण को उसके भयावह रूप मे उभारता है। यह एक विडम्बना ही है कि आलोचक वर्ग इसे करनटो के जीवन पर आधारित आचलिक उपन्यास कहकर एक ओर ढकेल देते हैं, जबकि डॉ० रागेय राघव ने जिस ईमानदारी के साथ इस तथ्य को उभारा है कि नैतिकता विहीन समाज

---

1 डॉ० कुवर पाल सिह—हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ 37

में भी नारी न स्वतंत्र है और न सुखी। उसका मनमाना शोषण होता है, उसके लिये प्रेम, त्याग, करुणा और विश्वास अंधे की आंखें हैं। वह जिस नरक में रहती है, उसमें गंदे कीड़ों की कुलबुलाहट ही उसकी साथी हैं। उसका पिता, माँ, पति, भाई, वहन, वेटा-वेटी सब जैसे कीड़े हैं, जब तक उसमें माँस है सभी अपना पेट भरते हैं। उस पर न कोई रहम खाता है न वह ऐसा सोचती ही है। करनटों के जीवन की नारकीयता के सम्बन्ध में डॉ० रांगेय राघव लिखते हैं—"इनकी कोई नैतिकता नहीं होती। इनमें मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं। ···· ···· वहाँ कोई बुराई "सेक्स" के आधार पर नहीं मानी जाती।"[1] रांगेय राघव ने प्यारी, कजरी, धूपो, बंगा की बहू और रामा की बहू, चदा एव सूसन के माध्यम से उस सम्पूर्ण समाज की काम-पिपासु आसुरी प्रवृत्ति का नगा चित्र प्रस्तुत किया है।

अपने जीवन की घृणित स्थिति से ऊबकर सुखराम कहता है—"नही कजरी। गाँव की ओर देख। किसान होता है। गरीब है, भूखा है, पर उसे भी बोहरा उधार देता है, उसकी भी इज्जत है। हम सबसे गये बीते कुत्तों से भी बदतर हैं। हम नट क्यो हैं, कजरी। ············ मानुस देह पाई है हमने तो फिर हम पर इतने जुलम क्यों होते हैं।"[2] गरीबी और जहालत में जी रहे करनटों का अपना कोई सम्मान नहीं होता। पैसे वाले उन्हे घृणित समझते हैं, समाज का कोढ मान गाँव से निकाल देते हैं, लेकिन उनकी लड़कियो और औरतों का यौन शोषण खूब करते है। "नट की छोरी पर जवानी आती है और गंदे आदमी उसे वेइज्जत करते है, फिर भी वह रंडी की तरह जिये जाती है। जिये जाती है। मर क्यो नहीं जाती। हम सब मर क्यो नही जाते।"[3] यह वक्तव्य सुखराम का है। वह सुखराम जो ठाकुर परिवार का है, लेकिन जन्म हुआ नटों में। उसका जीवन एक द्वंद्व है—सारी जिंदगी वह इसी द्वंद्व मे रहता है—ठाकुर बन नही पाता और नट बनने में उसका ठाकुरत्व आड़े आता है। लेकिन प्यारी इस तरह की नही है।

---

1. डॉ० रांगेय राघव—कब तक पुकारूं, पृ. 5
2. डॉ० रांगेय राघव—कब तक पुकारूं, पृ. 188
3. डॉ० रांगेय राघव—कब तक पुकारूं, पृ. 345

वह अधिक यथार्थवादी है। करनटों पर जब रुस्तमखाँ पुलिसवाला ज्यादा अत्याचार करता है, तब वह उसकी रखैल बन जाती है, ताकि नट सुखी रह सकें। और वहाँ से वह सूजाक जैसी भयकर बीमारी लेकर लौटती है, जिसमे उसका प्राणात हो जाता है। बड़े लोग धन और सत्ता के बल पर प्यारी जैसी जवान औरत का शोषण तो करते ही है, साथ ही उन्हे सूजाक जैसी मरणातक बीमारी भी देते है। प्यारी अच्छी तरह जानती है कि जब-तक वह जवान है, तभी तक रुस्तमखाँ उसे अपने यहाँ रखेगा। जान-बूझकर किया गया यह कार्य उसकी विवशता है, और रुस्तमखाँ जैसे भ्रष्ट लोग उनकी इन्ही विवशताओ का लाभ उठाते है। प्यारी सुखराम से कहती है—"मै जानती हूँ यह जवानी सदा नही रहेगी। जब यह चली जायेगी, तो रुस्तमखाँ भी मुझे छोड देगा, दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक देगा। तब मेरा एक तू ही तो है। और मेरा कौन है।"[1] इसी सदर्भ मे रागेय राघव उच्च-वर्ग के सवर्ण लोगो की औरतो के यौन-सम्बन्धो को उभारकर यह बताते है कि निम्न-वर्ग के लोगो मे यौन-शोषण है और सवर्णो मे विलासिता है। एक वर्ग अपना पेट भरने के लिये सारे अत्याचार सहता है, लेकिन दूसरा वर्ग भरे पेट को पचाने के लिये रगरेलियाँ मनाता है। पहली बार जब प्यारी दरोगा के साथ सोई थी, तब उसकी माँ समझाते हुये कहती है—"तू अभी नादान है, पागल। दुनिया है। इसमे सब ऐसी ही होती हैं। बड़े घरो की बहू देखकर तू महलो का सुपना न देख। रात तेरे बाप ने तेरी वजह से कमाई की है। बोहरे चदी के घर सेंध मार दी। मालूम था, दरोगा कुछ नही करेगा। और वहाँ बोहरे तो उगाही मे आज गाँव गया था, बोहरी अपने सिकलीगर यार के साथ सो रही थी। सब ऐसी ही है।"[2]

आर्थिक स्थितियाँ किस प्रकार विश्व को नचा रही हैं, यह इस उपन्यास का हरेक पात्र स्वीकार करता है। प्यारी की याद आने पर सुखराम कहता है—"गगा का पानी, सूरज की धूप और औरत की कोई जात नही है। यह तीनो सबके लिये समान हैं। ठाकुर के लिये धरती

---

1. डॉ॰ रांगेय राघव—जब तक पुकारू, पृ. 53
2. डॉ॰ रांगेय राघव—जब तक पुकारूं, पृ. 46

श्रौर श्रौरत एक-सी। जिसे पांव के नीचे दवा लिया सो अपनी, अपनी जात की।"[1] ठाकुर का अर्थ यहां धन और सत्ता के वल पर अपना अधिकार वनाये रखने वाले व्यक्ति से है, चाहे वह किसी जाति का हो। और यदि पास में पैसा नही, तो सब जाति और खानदान घरा रह जाता है, कोई नही पूछता। चदा इसका उदाहरण है। वह अंग्रेज मालिक की बेटी मिसी बाबा को सतान है लेकिन सुखराम के डेरे पर पली-बढी है, इसलिये उसकी भी वही हालत है, जो नटों की अन्य लड़कियों की होती है। वह बेहद सुदर है, लेकिन हुआ करे। पैसों के बिना सुदरता एक कलक है। ऐसा कलंक जिसका पश्चाताप भी संभव नहीं है। ठाकुर के बेटे नरेश से वह प्रेम करती है, नरेश भी उसे प्राण-पण से चाहता है। ठाकुर नही चाहता, न ठकुराइन। नरेश से विवाह न होते देख चदा पागल हो उठती है, वह जानती है कि उसके पास पैसा होता तो नरेश जैसे तीन सौ साठ उसके दादा की प्रार्थना करते। इसीलिये वह अधूरे किले के तहखाने में पहुँच पागलों की तरह सामने बैठे उल्लू से कहती है—"बोले! मुझे बता। खजाना कहां है। जानता है मैं कौन हूँ। मैं ठकुरानी हूँ। .... नरेश मेरा है। वे मुझे उसके पास नही जाने देते। वे नही जानते कि मैं मैम की बेटी हूँ। वे नही जानते कि मैं ठकुरानी हूँ। मुझे मेरा धन लौटा दे। वह मेरा हो जायेगा, मेरा हो जायेगा।"[2]

चदा का यह कथन इस समाज में व्याप्त अमानवीयता को अनावृत्त करता है। वह अच्छी तरह जानती है कि ठाकुर उसका विवाह नरेश से इसलिये नही होने दे रहा क्योकि उस पर धन, जायदाद नही है। अपने स्वप्नो की दुनिया को साकार करने के लिये वह खजाने में बैठे उल्लू से धन माँगती है। धन की कमी ही अच्छे इसान को पशु से गिरा बना देती है। सुखराम कहता है—"ये दुनिया नरक है। हम गदे कीड़े हैं। तूने यह ससार ऐसा क्यो बनाया, जहाँ आदमी कटता है तो उसके लिये दर्द तक नही होता। यहां पाप इतना बढ गया है कि गरीब और कमीना आदमी कोढी बन-बन कर अपने पेट के लिये अपनी अच्छी देही को गदा बना लेता है। यहां एक-एक आदमी दबता है, पर हम तो कमीन हैं।

1. डॉ० रागेय राघव—कब तक पुकारूं, पृ 116
2. डॉ० रागेय राघव—कब तक पुकारूं, पृ. 572

वे बड़े लोग क्यो करते हैं ऐसा। क्या वे अपने धन और हुकूमत के लिये आदमी पर अत्याचार करने से नही कांपते।"[1] इन विषम परिस्थितियों के सामने सुखराम स्वय को असमर्थ पाता है, इसीलिये चदा का गला घोटकर हत्या कर देता है। रागेय राघव आजादी के दस वर्ष बाद गुलाबी राजा के पंचशील राज्य मे भी चंदा जैसी लडकी का कोई भविष्य न देख उसे मार देते है—यह लेखक की कमजोरी नही, बल्कि समाजगत परिस्थितियों का दोष है, जिसमे हर स्वाभिमानी व्यक्ति अकेला और असमर्थ है। प्यारी, कजरी, धूपो और चदा की मृत्यु कारुणिक है, जिन परिस्थितियों में वे मरती है, वे सब हमारे विकासशील और इक्कीसवी सदी की ओर जाने वाले समाज के लिये प्रश्न छोड़ती हैं कि कब-तक प्यारी जैसी सुदर स्त्री रुस्तमखाँ जैसे सिपाहियो की रखैल बनकर सूजाक जैसी बीमारी से मरती रहेगी, कजरी कब-तक सूसन को बलात्कारी से बचाने के लिये अपनी जान देती रहेगी, धूपो बलात्कार का कलंक न झेल पाने के कारण कब-तक सिर फोड़कर मरती रहेगी और चदा कब-तक इस प्रकार भटकती रहेगी, कब उन्हे अपने स्वप्नो को साकार करने का अवसर मिलेगा। रागेय राघव के ये प्रश्न आज भी उतने ही जटिल हैं, जितने 1958 मे थे। आर्थिक असमानता की बढती खाई इन प्रश्नो और समस्याओ को और भी गभीर बना रही है।

नारी शोषण को आर्थिक परिप्रेक्ष्य मे रखकर रांगेय राघव इस तथाकथित विकासशील समाज की असलियत खोलते हैं, जहा गरीबी मे जी रही नारी का अर्थ कजरी, प्यारी, रामा की बहू और चदा के अलावा कुछ भी नही है। अन्याय और अत्याचार के आतक मे जीवन को नरक बना रही यह समाज व्यवस्था कैसे और कब बदलेगी। "कब तक पुकारूँ" तलवार की तरह प्रश्नों की बौछार करता है। नारी को जब तक आर्थिक स्वतत्रता नही मिलेगी तब तक वह इसी प्रकार नरक के कीड़े-सी मरती रहेगी। नारी शोषण की भयावह तस्वीर प्रस्तुत कर रागेय राघव ने सभ्य समाज को उसी का चेहरा दिखाया है, जिसे वह छिपाता रहता है।

□□

1. डॉ० रागेय राघव—कब तक पुकारूँ, पृ. 345

रेणु की कहानियों में अभिव्यक्त जाति-प्रथा

लेखन अपने युग की निरंतर परिवर्तित घटनाओ और उनके मूल मे कार्यरत व्यापारो का कलात्मक लेखा-जोखा है। कला एक अध्यवसाय है। जीवन की सातत्य-प्रक्रिया मे गहराई से उतरता लेखक मानवीय संवेदनाओं की खोज करता है। उसका उद्देश्य मात्र खोज करना ही नही, बल्कि उनकी स्थापना करना भी है। वह जिन मानव-मूल्यों की स्थापना करना चाहता है अथवा करता है वे सम्पूर्ण मानवता के लिये मंगलकारी होते हैं। इस बीच लेखक जिन अंतर्द्वन्द्वों में जीता है अथवा उन्हे भोगता है, उसकी अभिव्यक्ति करने की उत्कट इच्छा उसके मनोमस्तिष्क को बेचैन किये रहती है। वह यह भी चाहता है कि अच्छे जीवन की परिणति के लिये अपने अनुभवों को अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचा सके। और इस पहुचाने के लिये जो कलात्मक अभिव्यक्ति होती है, वह साहित्य है।

लेखक के पास जितने गहरे अनुभव होगे, वह उतना ही सफल लेखक होगा। अनुभव जीवन की गहरी सम्पृक्ति से आते है। प्रेमचंद, निराला, मुक्तिबोध और रेणु की जीवंतता और सहज-प्रासगिकता के मूल मे उनकी गहरी जीवन-सम्पृक्ति ही है। रेणु के "मैला आंचल" और "परती : परिकथा" विशाल और विस्तृत यथार्थ-दृष्टि के कारण ही महान् बन पड़े हैं। रेणु में जीवन के प्रति एक उद्दाम ललक थी। जीवन की छोटी से छोटी घटना भी उन्हे गहरे जाकर छूती थी, इसीलिये उनकी सवेदनाओं का आधार निरंतर फैलता और गहराता गया।

रेणु की समाजोन्मुखी विचारधारा उन्हें जीवन-जगत से अलग नही हटने देती। यही कारण है कि उनके साहित्य और व्यक्तिगत जीवन मे कही कोई अन्तर नही था। दोनों ही क्षेत्रों मे वे जुझारु बने रहे।

उपन्यासो के अतिरिक्त उनकी कहानियो मे जाति-प्रथा, धर्मान्धता, राजनीतिक-भ्रष्टाचार, शोषण और कुप्रथाओ पर तीखे व्यग हुये हैं। समाजवादी विचारधारा की परिणति होती है, वह भी रेणु मे है और यही उनकी सीमा भी है। समाज मे व्याप्त विभिन्न अन्तर्विरोधो और उनकी सूक्ष्मता के साथ पकड एव चित्रण के साथ-साथ अति-भावुकता रेणु को कही कमजोर बनाती है और कही और भी तीखा। राजेन्द्र यादव ने उनकी कहानियो के सदर्भ मे लिखा है—"अपनी कहानियो की योजना मे उसने वगला की सरलता और हिंदी के यथार्थ बोध का सुन्दरतम मिश्रण किया है. कभी लगता है रेणु मूलत. करुणा के कथाकार हैं और कभी लगता है वह कठोर वास्तविकता का निष्करुण, तटस्थ चितेरा है। बहरहाल यह सच है कि अन्य ग्रामीण अचल पर लिखने वालो की तरह न तो इसका यथार्थ जीवन-शून्य स्मृतियो का लेखा है और न शैली का दमनीय उलझाव अचल की हर सिकुडन और जटिलता को उसने बडी सुलझी निगाहो और महीन कलम से झाका है. .. लोक-गीत की मधुर कथात्मकता उसकी हर रेखा से बोलती है। नही, बोलती नही, पाठक उसे हमेशा अपने मन मे कही महसूस करता है। .रेणु का पाठक कहानी पढता नही, देखता है . एक-एक ध्वनि, एक-एक गध, एक-एक रग को महसूस करता हुआ उसे जीता है, उसके अर्थो को जानकर चकित होता है, जिंदगी मे जिन्हे बुरे लोग समझा था, सब उसकी कथा प्रक्रिया मे गुजरकर हल्के व्यग्य के बावजूद "अच्छे आदमी" बन जाते हैं। उसके पुरुष और नारी दोनो "पुरुष नही हैं, मूलत अपने सारे यथार्थ के बावजूद उसका "सौफिस्टिकेशन" बताता है कि वह कोमलता का कथाकार है।"[1]

रेणु की कहानियो के तीन सग्रह है—"ठुमरी" (1959), "आदिम रात्रि की महक" (1967) और "अगिनखोर" (1971)—इन तीनो सग्रहो के पढने के बाद यदि एकाएक यह प्रश्न पूछा जाये कि मूलत. रेणु उपन्यासकार थे अथवा कहानीकार? इस प्रश्न की महत्ता और प्रासगिकता महज इसीलिये नही है कि उन्हे सर्वप्रथम प्रसिद्धि "मैला आचल" से मिली, बल्कि इसलिये भी कि कुछ कहानियो के अतिरिक्त वे अच्छी

1 राजेन्द्र यादव—रेणु की श्रेष्ठ कहानिया, पृ 6–7

कहानिया न दे सके। इसका कारण तो यह है कि वे उपन्यासो मे जिस प्रकार से सूत्रो को फैलाते हैं और कथा का विकास करते है, कहानी मे ऐसा स्वच्छद रूप से करने का अवकाश नही होता। अत रेणु कुछ बधा-बधा-सा अनुभव करते हैं। इसका प्रमाण यह भी है कि उनकी लम्बी कहानिया अधिक सशक्त बन पडी है। लम्बी कहानियो मे वे उपन्यास विधा की रचना-प्रक्रिया का ही आश्रय लेते है। छोटी कहानियो मे वे निश्चय ही उखडे से रहते है और सब कुछ को थोडे मे ही समाप्त करने की मन स्थिति मे वे गहराई से किनारा कर उथले मे ही रह जाते है। रेणु की यह कमजोरी है। इस कमजोरी से कम से कम एक तो अर्थ निकलता ही है कि उन्होने "नयी कहानी" आदोलन के मध्य चलते एक मूड विशेष, क्षणवाद, अस्तित्ववाद और नकारवाद जैसे यूरोप से आयातित नारो को नकारकर शुद्ध भारतीय जीवन जगत की कहानिया दी और यही उनकी यह कमजोरी बहुत बडी सफलता बन जाती है।

प्रस्तुत आलेख मे रेणु की कहानियो का विश्लेषण जाति-व्यवस्था जैसी मुख्य समस्या को लेकर किया जा रहा है। भारत मे जाति-व्यवस्था निरतर गहराती जा रही है और गहराई के साथ अपनी विपमय जडे भी फैला रही है। ज्यो-ज्यो इसके उन्मूलन की बात कही जा रही है, त्यो-त्यो यह और भी प्रभावकारी ढग से अपना शिकंजा कसती जा रही है। आज जाति इतनी प्रभावशाली बन गई है कि इसके उन्मूलन की बात भी अब कल्पित लगने लगी है। नीचे से लेकर ऊपर तक इसका प्रभाव है। भारतीय राजनीति तो कम से कम जाति के बिना कुछ है ही नही। आज योग्यता, प्रतिष्ठा और वैभव की प्रदाता जाति ही है। रेणु इस पतनकारी स्थिति को लेकर अत्यधिक चिंतित थे—पहले से लेकर अन्त तक। उनके प्रथम उपन्यास "मैला आचल" का परम गाधीवादी बलदेव इस सत्य को स्वीकार कर अन्त मे कहता है—"वह पुरैनिया जायेगा, वही से चन्दन पट्टी चला जायेगा। वह अब अपने गाव मे रहेगा, अपने समाज मे, अपनी जाति मे रहेगा। जाति बडी चीज है। जाति की बात ऐसी है कि सभी बडे-बडे लीडर अपनी-अपनी जाति की पार्टी मे है।"[1] बावनदास और भी स्पष्ट करते हुये कहता है—"नही बालदेव, छोटन बाबू, जैसे छोटे लोगो की बात जाने दो। यह बेमारी ऊपर से आई है।

---

1 रेणु—मैला आचल, पृ 324

यह पटनियां रोग है।.......अब तो और धूमधाम से फैलेगा।........ भूमिहर, रजपूत, कैथ, जादव, हरजन सब लड़ रहे है।....... अगले चुनाव में तिगुना मेले चुने जायेंगे। किसका आदमी ज्यादा चुना जाये, इसी की लड़ाई है। यदि रजपूत पार्टी के लोग ज्यादा आये तो सबसे बड़ा मंत्री भी राजपूत होगा।"[1] रेणु ने यह 1954 मे लिखा था और 1978 में चौधरी चरणसिंह इस बात की पुष्टि करते हुये लालकृष्ण अड़वाणी से कहते हैं—"आप सिंध के है, इसलिये यहा के क्षेत्रों में प्रचलित जाति भावनाओं को नही समझ सकते। चरणसिंह को सरकार से निकाला जा सकता है, वाजपेयी को नही, क्योंकि वह ब्राह्मण है और मैं जाट हूं।"[2] चौधरी चरणसिंह का विरोध बड़ी और छोटी जातियों से था, इसलिये उन्होने बीच की जातियों को जनता सरकार में अत्यधिक महत्व दिया। प्रांतीय सरकारें बनते समय उन्होने इसी तथ्य पर विशेष बल दिया— जिनमें श्री रामनरेश यादव, उ. प्र., देवीलाल, हरियाणा, नीलमणि राउतराय, उड़ीसा, और कर्पूरी ठाकुर, बिहार, प्रमुख है। चौधरीजी के भक्त श्री राजनारायण जनता पार्टी के अस्तित्व में आते ही चिल्लाते फिर रहे थे—"ब्राह्मण फिर से सत्तारूढ होने की योजना बना रहे है।"[3] इस प्रकार, राजनीति एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऊपर से नीचे तक जिस तरह जातिवाद ने अपनी जड़ें गहराईं और फैलायी, उन पर रेणु ने अपनी कहानियों मे भी जमकर व्यग्य किये है।

"रसप्रिया" कहानी मूलतः जातिवाद की संकीर्णता और कुरूपता को लेकर गहरे उतरती है। यह कहानी ऊपर से प्रेम-कथा जैसी लगती है, किन्तु मूल मे जातिवाद की घृणित अवस्था को उजागर करती है। उसका प्रमुख पात्र "मिरदगिया" बहरदार जाति का है, जो निम्न कोटि मे आती है और वह प्रेम करता है ब्राह्मण जोधन गुरु की लड़की रमपतिया से। प्रेम करते समय मिरदगिया ने अपनी जाति छिपा ली थी, कारण कि वह अच्छी तरह जानता था कि जाति बताकर रमपतिया उससे प्रेम नही कर सकती। यह हिन्दुस्तान ही है, जहां पर प्रेम भी

---

1. रेणु—मैला आंचल, पृ. 310
2. लालकृष्ण आडवानी—विश्वासघात, पृ. 28
3. लालकृष्ण आडवानी—विश्वासघात, पृ. 115

जाति की सकीर्ण गंदी गलियों में विचरण करता है। प्रेम जैसे पवित्र और भावात्मक सम्बन्ध के बीच में जाति कहां, लेकिन यहां तो है ही। यहा वह सब होता है जो कहीं नही होता और उसी का शिकार होता है मिरदंगिया। आठ बरस दीक्षा लेने के बाद जोधन गुरु भी रमपतिया के विवाह की बात उससे करते है। जाति इसमें आड़े आती है "आठ बरस तक तालीम पाने के बाद गुरुजी ने स्वजात पंचकोड़ी से रमपतिया के चुनौमा की बात चलाई तो मिरदंगिया सभी ताल मात्रा भूल गया। जोधन गुरुजी से उसने अपनी "जात छिपा रखी थी।"[1] मिरदंगिया सच कहे तो जीवित न बचे और छिपाये रहे तो कब तक। अन्त मे कोई समाधान न देख रात में वह भाग छूटता है। यह स्थिति निश्चित ही बुरी है।

ग्रामीण जीवन में व्याप्त जाति व्यवस्था की दूसरी परत को उघाड़ते हुये रेणु "रसप्रिया" में ही बताते है कि छोटी जाति का वृद्ध भी गांव मे सम्माननीय नही होता। वह बडी जाति के लडकों से बेटा नही कह सकता। एक बार भूल से मिरदंगिया ने ब्राह्मण के बेटे को बेटा कह दिया, फिर क्या था आकाश पाताल एक। "परमानपुर मे उस बार एक ब्राह्मण के लड़के को प्यार से बेटा कह दिया था। सारे गांव के लडकों ने उसे घेर-कर मारपीट की तैयारी की थी—बहरदार होकर ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कहेगा। मारो साले बुड्ढे को घेरकर।.......मृदग फोड़ दो। मिरदंगिया ने हसकर कहा था—अच्छा, इस बार माफ कर दो सरकार। अब से आप लोगो को बाप ही कहूगा।"[2]

पूंजीवाद के उदय के साथ समस्त मानवीय और भावात्मक सम्बन्धों का मानो पतन ही हो गया। एक साथ मानव सम्बन्धों के मध्य में शोषण और स्वार्थ की नागफनी पैदा हो गई। व्यक्तिवाद की स्थापना हुई। यह कोई असामान्य और नयी अर्थात् सर्वथा नयी स्थिति नही थी, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्य स्थिति थी। क्योंकि, पूंजीपति वर्ग ने जहा पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहां सभी सामंती, पितृसत्ता-

---

1. रेणु—ठुमरी, पृ. 9–10
2. रेणु—ठुमरी, पृ. 9

त्मक और काव्यात्मक सम्बन्धो को खत्म कर दिया। उसने मनुष्य को अपने स्वाभाविक बडो के साथ बाध रखने वाले नाना प्रकार के सामती सम्बन्धो को निर्ममता से तोड डाला, और नग्न-स्वार्थ के, नकद पैसे, कोडी के हृदय शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यो के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध बाकी नही रहने दिया।...... जिन पेशो के सम्बन्ध मे अब तक लोगो के मन मे आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सबका प्रभामडल पूँजीपति वर्ग ने छीन लिया। डॉक्टर, वकील, पुरोहित, कवि, और वैज्ञानिक सभी को उसने अपना उजरती मजदूर बना लिया है।"[1] इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर रेणु ने भी भरपूर ध्यान खीचा है। धन के अभाव मे मजदूर बने कलाकार को जातिवाद ने और चूसा है। वैसे कहा तो यह जाता है कि गरीब की कोई जाति नही होती और जिसकी कोई जाति नही होती उसका समाज मे कोई अस्तित्व नही होता, चाहे वह कलाकार ही क्यो न हो। "ठेस" कहानी का सिरचन भी एक ऐसा ही पात्र है, जो गरीब है। गरीबी के कारण उसकी कला तो बिक ही चुकी है साथ ही छोटी जाति का होने के कारण उसकी हालत टहलुआ जैसी हो जाती है। इस अपमान को वह सारी जिंदगी झेलता है। सिरचन जैसे न जाने कितने कलाकार हैं जो अपनी छोटी जाति की विभीषिका को झेल रहे हैं—समस्त अमानवीयताओ के साथ।

ग्रामीण जीवन मे व्याप्त जातिवाद-ईर्ष्या "पचलाईट" कहानी मे मुखर हुई है। सारा गाव जातियो मे बटा हुआ है और हर जाति के टोले मे एक पचलाइट भी है। पचलाइट सम्मान और प्रतिष्ठा की सूचक है। इस बार महतो टोले के लोग भी पचलाइट लाते है। ब्राह्मणो को यह बहुत बुरा लगता है। महतो टोले मे पचलाइट आने का अर्थ ब्राह्मणो से बराबरी होगा, इसलिये वे इसे स्वीकार नही कर सकते। यह छोटी-सी घटना जातिगत ईर्ष्या और भेद-भाव को स्पष्ट करती है। रेणु बहुत ही सहजता के साथ इन समस्त अन्तर्विरोधो को अभिव्यक्त करते है। पच-लाइट लाते समय गाव के बाहर ही फुटगी झा मिल जाते है। उनकी जलन की परिणति यह कहकर होती है—"कितने मे लालटेन खरीद हुआ महतो।"[2] रेणु और भी स्पष्ट करते हुये कहते है—"बावन टोली

---

1 कार्ल मार्क्स—फ्रेडरिक एगेल्स—कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, पृ 38–39

2 रेणु—ठुमरी, पृ 83

के लोग ऐसे ही ताव करते हैं। अपने घर की ढिबरी को भी विजली-बत्ती कहेंगे और दूसरों के पंचलेट को लालटेन।"[1] यहां यह द्रष्टव्य है कि गांव मे ईर्ष्या का भाव इतना प्रखर है कि एक व्यक्ति का अपमान पूरी जाति का अपमान बन जाता है। हर आदमी पहले जाति विशेष का सदस्य है, आदमी बाद में। ऐसी संकीर्णता में सारा गांव बंधा है। महतो टोले मे आये पंचलाइट के न जलने पर भी सारा गांव खुश होता है। यद्यपि इससे दूसरी जाति वालों को किसी प्रकार का लाभ नही मिल रहा फिर भी जब दूसरे का काम बिगड़ रहा है तब हंसने से भी क्यों वंचित रहें। इसीलिये महतो टोली का पंचलाइट जलते न देख दूसरे टोलों में खुशी की लहर छा गई—"राजपूत टोली के लोग हंसते-हसते पागल हो रहे है। कहते है, कान पकड़कर पंचलेट के सामने पांच बार उठो-बैठो। तुरन्त जलने लगेगा।........रुदल शाह बनिया भारी बतंगड़ आदमी है। कह रहा है पंचलेट का पम्पू जरा होशियारी से देना।"[2] सम्पूर्ण गांव मे जिस प्रकार जातिवाद फैला है, और जन-जीवन को दूषित कर रहा है, रेणु इस ओर गंभीरता से ध्यान आकर्षित करते हैं।

रेणु 1959 के बाद अपने निष्कर्षों में इतने तीखे नहीं रहे, जितने पहले। इसका एक कारण यह भी था कि बाद में उनका मोह-भंग हो गया और उन्हे लगने लगा कि अब समाज में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की कामना करना बेईमानी है। और यदि कुछ संभव भी है तो वह बुलट के माध्यम से। यह उनकी भावुकता और अतिरिक्त-संवेदना की परिणति है। इसका प्रभाव 1959 के बाद कहानी-उपन्यासो में स्पष्ट है। "मैला आंचल", "परती : परिकथा" और "ठुमरी" जैसी सशक्त रचना वे अन्तिम दिनों तक फिर नही दे पाये। "आदिम रात्रि की महक"—1967 और "अगिनखोर" 1971 में उनकी पच्चोस कहानियां हैं, लेकिन चार-पांच कहानियों को छोड़कर वे कहने में कुछ असमर्थ ही रहे हैं। 'जलवा", "आदिम रात्रि की महक", "पुरानी कहानी : नया पाठ" और "अगिनखोर" कहानियों मे अवश्य ही उनके निज के अनुभव अभिव्यक्ति पा सके हैं, लेकिन अन्य कहानियों में उनकी असफलता स्पष्ट है। जीवन के जिस मूल

1. रेणु—ठुमरी, पृ. 83–84
2. रेणु—ठुमरी, पृ. 87

उत्स पर रेणु की पकड थी, वह उनके हाथ से निकल गया और वे धीरे-धीरे अराजक होते गये। यह बड़ी विचित्र स्थिति है कि प्रेमचद जैसा लेखक "सेवा सदन" से लेकर "गोदान" तक की यात्रा करता है और रेणु "मैला आचल" से लेकर "परटू बाबू रोड" तक की। प्रेमचद जिस प्रकार निरतर प्रखर होते गये रेणु उसी प्रकार उथले और निस्तेज। यह अन्तर जीवन दृष्टि का अन्तर है। एक सही दृष्टि और विचारधारा के अभाव में लेखक किस प्रकार अपनी रचना की हत्या करता है, रेणु से यही समझा और सीखा जा सकता है।

□□

मार्क्सवाद और साहित्य

"हमे चाहिये कि जो सुदर है, उसे सुरक्षित रखे। भावी विकास के लिये आरम्भ बिंदु बनाने से हम वास्तविक सौंदर्य का तिरस्कार क्या इसलिये कर दे कि वह पुराना है। नवीन को ऐसा मानकर जिसके आदेशो का पालन करना ही है, हम क्यो चले। सिर्फ इसलिये कि यह नवीन है, यह सरासर बेवकूफी है।"[1] लेनिन के ये विचार नये-पुराने के ग्राह्य-अग्राह्य के द्वद्व को समाप्त कर देते है। आज कम से कम हिन्दी मे विश्वविद्यालीय प्राध्यापको की जो बाढ आई है, उसने बगैर अध्ययन-मनन के जिस प्रकार नारे उछाले है, उससे आलोचना का वातावरण गदला हुआ है, गभीरता कम हुई है, चिन्तन की परम्परा का ह्रास हुआ है। निश्चय ही यह स्थिति घातक है। यह भारतीय बूर्ज्वा राजनीति की कुटिल चालो का फल है, जिसका सबसे बुरा परिणाम यह निकला कि अपनी छपासी भूख के कारण इन लोगो ने बहुत कुछ लिखा लेकिन जो लिखा वह इतना गड़बड था कि उससे जो भ्रम फैले, उससे साहित्य का हित होने की अपेक्षा अहित ही हुआ।

सैद्धातिक आलोचना मे हम अभी तक साधारणीकरण, अलकार एव छद आदि की मानसिकता से मुक्त नही हो पाये हैं, परिणामत. वर्तमान जीवन से निकले सघर्परत्, साहित्य और उनके दिशागामी पात्रो की ईमानदारी को जाचने के लिये हमारे पास कोई कसौटी नही है। यह एक विडम्बना ही है कि हमारे आलोचक भारतीय थानेदार बन बैठे हैं। अपने कर्त्तव्यो की पालना की ओर उनका ध्यान ही नही जाता है। जबकि आलोचक के लिये यह आवश्यक है कि वह लेखक से अधिक गभीर और

---

1. क्लारा जेटकिन—लेनिन के सस्मरण, पृ. 12

सूक्ष्म दृष्टि वाला हो, जीवन संघर्षों के प्रति उसका स्वस्थ सोच हो और ईमानदारी के साथ उनमे बगैर किसी समझौते के भाग लेता हो। आलोचक जब तक दूर की वस्तु बना बैठा रहेगा तब तक साहित्य भी उसके लिये दूर की कौडी ही रहेगा। इसलिये वह निरतर दमन और उत्पीडन के विरुद्ध लिखे जा रहे धारदार साहित्य को पहचाने और अन्य लोगो से उसका परिचय कराये।

इधर पिछले कुछ वर्षों से 'मार्क्सवादी सौदर्यशास्त्र" को लेकर जनवादी पत्रिकाओ में लगातार वहस होती रही है। मजे हुये आलोचको से लेकर नौसिखिया आलोचको तक ने लेख लिखे हैं, लेकिन यह विडम्बना ही है कि इस सबके बावजूद मूल विषय और भी अस्पष्ट होता गया। लम्बे-लम्बे लेखो ने सौंदर्यशास्त्र सम्बन्धी जो भ्रम के किले थे—उन्हे और भी मजबूत किया। लगातार चलती बहसो ने सामान्य पाठको के सामने इस तरह का पक्ष प्रस्तुत किया कि "मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र" जीवन की जटिलताओ से नही, बल्कि साहित्यिक गभीर वहसो के माध्यम से ही स्पष्ट हो सकता है। मार्क्सवाद-जीवन सघर्षो और उनमे अंतर्निहित कुटिलताओ को समझने की वैज्ञानिक दृष्टि देता है, जो अध्ययन के साथ-साथ जीवन अनुभवो से परिपक्व होती जाती है। ठीक उसी तरह "मार्क्सवादी-सौदर्यशास्त्र" है जो निरतर अध्ययन-मनन और जीवनानुभवों से दृढ होता जाता है। इसके लिये हमारे पास जितनी ऐतिहासिक दृष्टि साफ होगी उतना ही हम वर्तमान और भविष्य के प्रति निष्कर्षो मे सफल होगे। निश्चय ही यह एक लम्बी प्रक्रिया है।

मार्क्सवाद सौदर्यशास्त्र को आदर्शवादी परिभाषा को अमान्य ठहराता है। आदर्शवादी दृष्टिकोण के अतर्गत सौदर्य पूर्णरूप से एक ऐसी विषयीगत वस्तु समझी जाती है जिसकी जडें वास्तविकता के सामान्य विषयगत गुणो मे नही है। मार्क्सवाद मानता है कि प्रकृति और उसके अन्य उपकरण अपने आप मे न सुदर हो सकते है और न असुदर। सौंदर्य की भावना तो मनुष्य में ऐतिहासिक परिस्थितियो के फलस्वरूप पैदा होती है। विषयीगत आदर्शवाद के विपरीत मार्क्सवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्राकृतिक सौदर्य भावना शुद्ध रूप से चेतना की विषयीगत अवस्था ही नही बल्कि प्रकृति, वस्तुओ और मनुष्य के

सामाजिक जीवन मे प्राप्त निश्चित विषयगत गुणो के कारण होती है।[1]

एक समस्या यह भी है कि हम विष्य-वस्तु और उसके रूप को विभिन्न दृष्टिकोणो से अलग-अलग रूप मे देखने-परखने के आदी हैं। मार्क्सवाद का इस सम्बन्ध मे दृष्टिकोण यह है कि रूप विधान का अध्ययन करके वस्तु से निकटता स्थापित की जाये। जब वस्तु से हमारा नैकट्य होगा तो उसके रूप की परख आसानी से की जा सकती है। सत्ता, पूंजीपतियो और विदेशी शोषणकारी प्रवृत्तियो के दम-खम पर चलने वाले लेखक-आलोचको ने इस विषय को ज्यादा उलझा दिया है। उनकी दृष्टि मे साहित्य का काम ऐसे सौदर्य सम्बन्धी प्रतिमानो की स्थापना करना है जिनसे हमारी मध्यवर्गीय वासनायें सतुष्ट हो सकें। आदि-काल से लेकर अब तक चली आ रही यह दृष्टि केवल नख-शिख वर्णन, विरह वर्णन मे ऊहापोह और मानसिक व्यभिचार देने के अलावा कुछ नही दे सकी। जब इस प्रतिगामी धारणा पर प्रहार किया गया तो सोये जागते सभी सापनाथ एकदम फुंकार उठे और उन्होने भारतीय सस्कृति एवं परम्परा की रक्षा के लिये अमूर्त कला का नारा दिया। ये ऐसे लोग थे, जिन्हे जीवन से कुछ लेना-देना नही था। जनता की भावनाओ, उनके सघर्षो और निरतर चलती लडाई से उनका कोई वास्ता नही था। उनके लिये साहित्य जन-जीवन का सघर्ष नही, मन के किसी कौने मे छिपी निजी आह का स्वर था। भला ऐसा साहित्यकार क्यो वस्तु-वादी आलोचना की वकालत करेगा। इसलिये उन्होने मार्क्सवादी साहित्य को राजनीतिक करार दिया और जनता की कृतियो को देखने-परखने के लिये राजनीतिक मूल्य से उसके सौदर्य मूल्य की तुलना की। कला के सौदर्य मूल्य को उसके रूप से जोड दिया। यह गैर-मार्क्सवादी दृष्टिकोण है। इस प्रकार की स्थिति साहित्य के लिये घातक है, साहित्यकार के लिये सौदर्य एव रूप की स्थितियो को समझना जरूरी है वरना वह वस्तु से निरपेक्ष सौदर्य के चक्कर मे पड़कर रूपवाद का शिकार हो जायेगा जो उसके विकास के लिये घातक होगा।

---

1. सोवियत एन्साइक्लोपीडिया ऑफ एस्थेटिक्स, मास्को, 1948, पृ 112

रचना मे यथार्थ किस प्रकार व्यक्त होकर रचना को बडा और पाठक को सचेत करता है, इसकी परख होनी चाहिये। द्वितीय विश्वयुद्ध के दरम्यान लिखे गये साहित्य को यथार्थवादी कहे अथवा स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य मे "नयी कहानी" और "नयी कविता" के नाम पर स्वानुभूति के साहित्य को। पहले मे जहाँ विचार की अधिकता है, वही दूसरे मे अतिशय भावुकता की। "भोगे हुये यथार्थ" के नाम पर जिस तरह अपनी सस्कारगत कुठाओ को इन लेखको ने कलात्मक-ढग से प्रस्तुत किया है, क्या उसे हम यथार्थवादी साहित्य कह सकते है ? उन लोगो की मान्यता है कि लेखक जिस तरह चीजो को अनुभूत करता है, वह उसी रूप मे उसे रचनाबद्ध कर दे, यही यथार्थ है। फिर तो गुलशन नदा, रजीत एव अन्य ऐसे ही घटिया उपन्यासकार एव "सत्यकथा", "मनोहर कहानियाँ", "गर्म कहानियाँ" आदि के लेखक सबसे बडे कहानीकार कहलायेगे। फिर अतर कहाँ है ? वह सूत्र कहाँ है, जिसकी पकड के अभाव मे अच्छे से अच्छा लेखक कबाडिया बन जाता है। "यथार्थवाद के मूल मे विवेक और तर्क होता है। जिस वस्तु की स्थूल सत्ता का प्रमाण हमारे पास नही, वह यथार्थ की श्रेणी मे नही आती। जासूसी, तिलिस्मी और अध्यात्मिक रचनाये यथार्थ की श्रेणी मे नही आती। यथार्थवाद का प्रयोग आदर्शवाद और रोमाटिसिज्म के विरोध मे किया जाता है।···· यथार्थ की प्रमुख विशेषता है, जहाँ लेखक बिना किसी भय अथवा पक्षपात के ईमानदारी के साथ जो कुछ भी अपने आस-पास देखता और अनुभव करता है उसका चित्रण करे। जिंदगी इतनी हसीन नही है, जितनी आदर्शवादी मानते है और उतनी भयानक और विकृत भी नही जितनी व्यक्तिवादी प्रस्तुत करते है। सामाजिक यथार्थ इन दोनो के बीच की सतुलित कडी है। यथार्थवाद वह साहित्यिक सयोग है जो चुनाव तथा रचना के माध्यम से अपने वास्तविक विचारो को समुन्नत रूप मे पाठको के सामने उपस्थित करता है।"[1] यथार्थ लेखक की तर्कसगत और वैज्ञानिक दृष्टि का परिणाम है। यदि ऐसा नही है तो कितना भी जीवन अनुभव हो, उसकी परिणति अतर्मन की कुठाओ की अभिव्यक्ति मे ही होगी। चेतनाहीन लेखक चाहे जिंदगी मे नित्यप्रति कितना ही सघर्ष क्यो न कर रहा हो, वह यथार्थ रचना नही दे सकता, उसकी रचना टूटन-घुटन और व्यक्तिगत त्रास से लबालब होगी ही।

---

1. एच कास्ट—लिटरेचर एण्ड रियलिटी, पृ 62

साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों को सामंती पूंजीवादी मानसिकता के लोगों ने जिस प्रकार उलझा दिया है और अपनी रंगीन पत्रिकाओं एवं मठों से जो घोषणायें को हैं, उसके अनुसार साहित्यकार एक अलौकिक प्रभा-मंडित व्यक्तित्व होता है। सामान्य जनता और उसके दु:खद जीवन से उसका कोई लेना-देना नहीं होता। साहित्यकार जो वर्णन करता है, वह इस युग का नहो वरन् भविष्य का होता है। वह युगद्दष्टा और युगसृष्टा है। ये कुछ ऐसे कुविचार हैं जो साहित्यकार को अपने जीवन संघर्षों की मजबूत पकड़ की परिणति न मान उसे स्वयंभू मानते है। यह भोषण राजनीति साहित्य के पुरोधाओं ने चलाई। इसके मूल में उनका एकमात्र उद्देश्य यही था कि साहित्य कहीं भी जीवन से न जुड़ पाये, यदि ऐसा हो गया तो उसमें राम और कृष्ण की जगह होरी और गोबर जैसे भुखमरे लोग छा जायेंगे। इस कुटिल चाल का विरोध हिन्दी में सबसे पहले प्रेमचंद ने किया। प्रेमचंद अपने युग की उपज थे, जैसा कि हर साहित्यकार होता है। "पंच परमेसर" और "सौत" जैसी कहानियाँ लिखने वाले प्रेमचद अंत में "ठाकुर का कुंआ", "पूस की रात" और "कफन" जैसी कहानियाँ देते हैं। "सेवा सदन" से अपनी उपन्यास यात्रा शुरू करके अंतिम अमर कृति गोदान देते हैं। यह उनकी राजनीतिक समझ का ही परिणाम है। जीवन संघर्षों में लेखक जितना ईमानदारी से भाग लेगा, उसकी पकड़ उतनी ही मजबूत होगी। विचारधारा तो लेखक के लिये जीवन संघर्षों को समझने की दृष्टि प्रदान करती है। केवल विचारधारा के आधार पर कोई भी बड़ा लेखक नहो बनता। आज जैसे-जैसे सघर्ष बढ रहे है, वैसे-वैसे ही लेखक का काम दुरुह होता जा रहा है। वह प्रेमचद की तरह अपने युग को किस तरह जीवित रख पाता है, यह उसकी विचारधारा पर निर्भर करता है।

साहित्यकार विचारधारा को कहाँ तक अपनाये, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। वर्ग-संघर्ष से जुड़ा लेखक अपनी रचना में किस प्रकार विचारधारा को स्थान देता है—देना चाहिये, यह उसकी वर्गीय स्थिति की समझ पर निर्भर करता है। विचारधारा को बचाने की जितनी अधिक शक्ति लेखक में होगी, वह उतना ही बड़ा और जीवंत लेखक बन सकता है। स्वस्थ व्यक्ति वही कहलाता है, जो जितना खाये पीये उतना ही उसका रक्त, मांस, मज्जा बने। ज्यादा खाकर ज्यादा निकालना स्वास्थ्य की पहचान नही है। पाचन शक्ति ही स्वास्थ्य की प्रतीक है। ठीक उसी

तरह लेखक है, वह जितना अनुभूत करता है, उतने को पचाकर कलात्मक स्तर पर अभिव्यक्त कर सकता है तो निश्चय ही बड़ा लेखक है। साहित्य और विचारधारा का सम्बन्ध दूध और चीनी की भाति होता है। इसमें एक अनुपात भी आवश्यक है। "प्रेमचंद ने गोदान में और यशपाल ने दिव्या मे विचारधारा को उच्च कलात्मकता के स्तर पर प्रस्तुत किया है, वह हमारे लिये अनुकरणीय है।"[1]

मार्क्सवाद के संदर्भ में साहित्य का विश्लेषण जरूरी है। मार्क्सवाद केवल राजनीति नही है, वरन् वह जीवन को समझने की कुजी है। यह एक ऐसी वैज्ञानिक विचारधारा है जो लेखक को जीवन और जीवन सघर्षो से जोड़ती है, उसे जुझारू बनाती है। विचारधारा के अभाव में व्यक्ति संघर्षों से बचता है, समझौते करता है, लाभ और लोभ के मोह में पड़कर टूटता है, कुंठित होता है, अपनी सीमित दुनिया का निर्माण करता है, लेकिन विचारधारा वाला लेखक सघर्षो में और ज्यादा मजबूत होता है। यह मजबूती उसके चिंतन और रचना मे भी आती है, जिससे रचना में ताजगी बनी रहती है, जीवंतता रहती है। इसलिये रचनाकार के लिये मार्क्सवादी विचारधारा आवश्यक है, क्योंकि मार्क्सवाद जीवन में व्याप्त विषमताओ के प्रति आँसू नही बहाता बल्कि उन्हे बदलने का मजबूत सकल्प देता है। उसके लिये मनुष्य से बड़ा कुछ भी नही है। मनुष्य के सुदर भविष्य के लिये मार्क्सवाद सघर्ष करना सिखाता है, उसमें साहस और शक्ति देता है। मार्क्सवाद को लेकर जो भ्रम पैदा किये जाते रहे है, वह अब टूट रहे है। और साहित्य में आलोचना के लिये सामाजिक यथार्थ अब आवश्यक आधार बन गया है। रचना प्रखर हो, विषम परिस्थितियों से लड़ने की शक्ति देती हो, सुदर भविष्य के प्रति आस्था जगाती हो, वही बड़ी रचना है, मार्क्सवाद यही सीख देता है।

□

---

1. डॉ. कुंवर पाल सिंह—मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और हिन्दी कथा साहित्य पृ. 52

आचार्य रामचंद्र शुक्ल और उनकी इतिहास-दृष्टि

निर्विवाद रूप से आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास को लिखने वाले पहले मनीषी हैं, जिनकी दृष्टि एक हजार वर्ष के सुदीर्घ और विभिन्न मत-मतांतरों के झमेले में पड़े साहित्य को मात्र तिथिवार सजाने पर ही नही रही, वल्कि उसे समाज के विकास के इतिहास के साथ देखने परखने की भी रही। वे साहित्य को गंभीर और समाज-सापेक्ष मानते है। समाज से अलग हटकर साहित्य जिंदा रहे यह वे नहीं मानते। इसीलिये "अमरबेली साहित्य" का वे डटकर विरोध करते है। "हिन्दी साहित्य का इतिहास" के प्रारंभ मे वे अपने विचारो की घोषणा करते हुये कहते है—"जबकि प्रत्येक देश का इतिहास वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्ही चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुये साहित्य परम्परा के साथ उनका सामजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक-सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक प्रवृत्ति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक भी होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने मे यह बात घ्यान में रखनी होगी कि किसी विशेप समय में रुचि विशेप का संचार और पोपण किधर से और किस प्रकार हुआ।"[1]

इतिहास-लेखन में शुक्ल जी की मूल दृष्टि जनता की चित्तवृत्ति पर ही रही। जन-जीवन के परिवर्तन-परिवर्द्धन और अन्य आवश्यक रुझानों

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, काल विभाग

का शुक्ल जी ने गहराई के साथ अध्ययन-मनन कर अपनी ऐतिहासिक दृष्टि का निर्माण किया है। जहाँ भी उन्हें अपनी बात स्पष्ट करने का अवसर मिला, उसे सम्पूर्णता में ही कहने की कोशिश रही है। आचार्य शुक्ल की मान्यता थी कि किसी कवि या लेखक को समग्र रूप से जानो, देखो और परखो, टुकड़ो में नही। जीवन और जगत मे जब-तक गहरी रुचि नही होगी, तब-तक मूल्यांकन की कसौटी पर यथार्थवादी धारा नही रखी जा सकती।

शुक्ल जी साहित्य की विकास प्रक्रिया को समाज के परिवर्तन और परम्परा के द्वंद्व की कसौटी पर कसते है। समाज के विकास का क्रम समझने के लिये उसके ऐतिहासिक संदर्भो से जुडकर उसकी द्वद्वात्मकता मे छिपे अंतर्सत्यो की खोज आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि इस प्रकार की वैचारिकता के अनुरूप नही बन पाई थी, फिर भी जो विशेषता है उसे नकारा भी नही जा सकता कि उन्होने भरसक कोशिश की कि अपने समय के स्वतत्रता आदोलन के मूल मे चल रहे पुनरुत्थानवादी-दृष्टिकोण को सामती विचारो के सड़े-गले पक्ष से अलग रखें, लेकिन यह किसी हद तक सफल नही हो पाया। यह कमी हमारे यहाँ के पूजीवादी नेतृत्व मे भी थी जो आगे बढ-चढकर राष्ट्रीयता की दुहाई दे रहा था। यही कारण था कि शुक्ल जी की दृष्टि एक ओर तो प्रगतिशील है और दूसरी ओर सामंतवाद के निर्मम ढाचे मे वे लोक-सत्तात्मक राज्य की प्रशसा करते है। जिस समय शुक्ल जी यह सब कह और लिख रहे थे उस समय तक पश्चिम मे बहुत बडे और सुलझे हुये विचारक अपनी ऐतिहासिक दृष्टि का उद्घोष कर चुके थे। शुक्ल जी उन विचारो से अछूते नही रहे।

सैंकडो वर्षों की घनघोर पराधीनता ने जिस अनास्था की नीव डाली वह उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे कुछ-कुछ हिलने लगी। जन-जीवन मे एक क्रातिकारी बयार बहने लगी, यह बयार थके-मादे लोगो को आराम दिलाने वाली नही थी बल्कि शक्ति और सामर्थ्य दे रही थी। बहुत वर्षों के बाद ऐसा वातावरण बना जिसमे खुलकर सास ली जा सकती थी। परिणामतः एक से बढकर एक समाज सुधारक प्रकाश मे आये। साहित्य से लेकर सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्र मे उस नयी बयार ने अपनी करामात दिखाई। विदेशी दासता, आर्थिक

विपन्नता, धार्मिक अ ध विश्वासो मे डूबी भारतीय जनता को आर्य समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसायटी एव प्रार्थना समाज ने शक्ति दी, उससे जड जीवन हिल गया। शिक्षा का प्रचार-प्रसार, रेल, सडक, मशीन एव जड पकडते पूजीवाद ने भी भारतीय जडता को तोडा, जिसकी प्रतिध्वनि उस समय के साहित्य मे भी देखने को मिलती है। अ ग्रेजो द्वारा आरभ की गई शिक्षा व्यवस्था के परिणामस्वरूप पढे-लिखे लोगो मे विदेशी चिंतन का प्रभाव अपनी जडे जमाने लगा। शुक्ल जी इसी युग एव परिस्थितियो की उपज थे। और यही हम बारीकी से देखे तो उनकी सीमा और सामर्थ्य भी स्पष्ट हो जाती है। जिस पुनरुत्थानवादी युग की उपज शुक्ल जी थे, वही उनकी सीमा भी है। यही कारण है कि एक ओर उनमे आगे बढने और कुछ नया दे सकने की ललक है, तीव्र इच्छा है, अ ग्रेजी दासता की बेडिया खत्म करने की आकुलता है, शोषण और अ धविश्वासो के प्रति आक्रोश है, वही दूसरी ओर विकासवाद की सीमाये भी हैं। साहित्य के इतिहास को उन्होने लोक जीवन की चित्तवृत्ति के माध्यम से देखा है, लेकिन वर्ग-सघर्ष के आलोक मे देख सकने की शक्ति वे जुटा नही पाये थे। उनका विकासवाद डारविन के विकासवाद तक ही सीमित रहा। इसलिये शुक्लजी मे प्रगतिशील विचार तो हैं, लेकिन उन प्रगतिशील विचारो को धार धरने वाली, चमकाने वाली वैज्ञानिक विचारधारा नही है। पश्चिमी विचारधारा के आयात के सम्बन्ध मे वे दो बातो पर ध्यान दिलाना चाहते हैं, 1—हम जिन विदेशी विचारो को स्वीकार करें वे भारतीय जीवन और साहित्य के अनुकूल हो तथा, 2—विदेशी के नाम पर वहाँ के कूडे-करकट को स्वीकार करना अच्छी बात नही है। इसीलिये उन्होने वहाँ के अच्छे विचारको का स्वागत किया और जो उन्हे रुचा नही उसके विचारो की जमकर धुनाई की। उनकी इतिहास दृष्टि के पीछे ये विचार अपना प्रभाव छोडते है। हालाकि यह कहना कि विदेशी विचारको मे प्रमुखत आई० ए० रिचर्ड् स एव मैथ्यू आर्नोल्ड का स्पष्ट प्रभाव शुक्ल जी पर है, सही नही है। बहुत पहले शची रानी गुर्टू ने अपने एक लेख "रामचद्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नोल्ड" मे दोनो के विचारो की समानता की थी लेकिन यह समता किसी अ धे आदमी द्वारा गाय और भैंस को समता बताने जैसी ही है। शुक्ल जी पर इस तरह के आरोप उन लोगो ने लगाये जिनका काम चिंतन-मनन की गहराइयो मे उतरना नही बल्कि ऊपर ही

बैठकर लाठी भाजना है। ऐसे लोग क्या नही कर सकते। शुक्लजी जैसे घभीर मनीषी और विस्तृत आयामो को छूती उनकी विचार शक्ति से किसी की भी तुलना की जा सकती है। जब तुलना ही करनी है तो कैसे भी कर सकते है। इसलिये यह सब बेकार की बाते है। शुक्ल जी पर जिनका प्रभाव है वह सीधे-सीधे नही है वह सब रच-पचकर ही अभिव्यक्त हुआ है। शुक्ल जी विदेशी विचारो की देन नही हैं, विदेशी विचारो ने तो उनके चिंतन को प्रखर बनाया है। वे भारतीय चिंतन परम्परा के स्वस्थ और प्रतिभावान समालोचक है।

प्रथम इतिहासकार होने के नाते शुक्ल जी की जिम्मेदारी और भी बढ जाती है। यत्र-तत्र छिपी हुई सामग्री की श्रमसाध्य और कष्ट साध्य खोज, उसका क्रमबद्ध विश्लेषण, युग प्रवृत्ति का मूल्याकन, साहित्य की मूल आत्मा की गहरी परख और पकड एव उपलब्ध सामग्री की प्रामाणिकता निश्चित करना कम महत्त्वपूर्ण काम नही था। अपनी कालगत, परिस्थितिगत एव अन्य स्थितियो की सीमाओ मे रहकर जितना काम किया जा सकता था आचार्य शुक्ल ने उससे अधिक ही किया। इसलिये उनका मूल्याकन करते समय हमारी दृष्टि उस समय की परिस्थितियो पर भी जानी चाहिये जिनसे शुक्ल जी जैसा आलोचक उत्पन्न हुआ, विकास हुआ और उन सीमाओ मे सिमटकर भी रह गया।

आचार्य शुक्ल "हिन्दी साहित्य का इतिहास" मे वैज्ञानिक और सटीक काल विभाजन के लिये उस समय की काव्य प्रवृत्तियो और जन-सामान्य की चित्तवृत्तियो को अपना आधार बनाते है—"शिक्षित जनता की जिन जिन प्रवृत्तियो के अनुसार हमारे साहित्य स्वरूप मे जो-जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावो की प्रेरणा से काव्य-धारा की भिन्न-भिन्न शाखाये फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुये सुसगत काल विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पडता था।"[1] अपनी बात को और स्पष्ट करते हुये वे आगे लिखते है—"नामकरण के सदर्भ मे दो प्रकार की पद्धति अपनाई गई है, 1—किसी विशेष ढग की रचनाओ के आधार पर और 2—रचनाओ की प्रसिद्धि के आधार पर क्योकि—

---

1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—प्रथम सस्करण का वक्तव्य, स 1986

प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है।"[1] आचार्य शुक्ल से पहले गार्सा द तासी, मिश्र बधु आदि ने जो हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे, वे इस प्रकार के वैज्ञानिक आधार और जन-जीवन की चित्तवृत्ति के आधार पर नही थे, बल्कि उन्होने आदि, मध्य, पूर्व एवं उत्तर इत्यादि खण्डो मे एक हजार वर्ष के इतिहास को बाधकर देखा था। इससे सुसगत तथा प्रवृत्यात्मक झलक नही मिल पाई। शुक्ल जी इस प्रकार काल विभाजन को उचित नही मानते।—"सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खण्डो मे आँख मूदकर बाट देना—यह भी न देखना कि खड के भीतर क्या आता है, क्या नही किसी वृत्तसग्रह को इतिहास नही बना सकता।"[2] आचार्य शुक्ल ने एक हजार वर्ष के विविधताओ से भरे सुदीर्घ साहित्य को विश्लेपित कर जिस सुसगत ढग से अपने इतिहास में लिखा है और काव्य प्रवृत्तियो एव जन-जीवन की चित्तवृत्ति के आधार पर जो नामकरण किया है, वह आज भी चुनौती बनी हुई है। बाद के विद्वानो ने यद्यपि उसमे कुछ सशोधन किया है तथापि मूल परिवर्तन की गुजाइश को उन्होने भी नकारा है। जॉर्ज ग्रियर्सन, महापडित राहुल साकृत्यायन, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेंद्र एव डॉ० राम कुमार वर्मा आदि ने नामकरण मे सशोधन अवश्य किये हैं लेकिन शुक्ल जी के काल-विभाजन की प्रासगिकता पर वे प्रश्न-चिह्न नही लगा पाये है। नामकरण मे सशोधन का जहाँ तक प्रश्न है वह बाद मे उपलब्ध हुई सामग्री के आधार पर है, जो शुक्ल जी की अपनी विवशता थी। उन्हे अधिक से अधिक परिश्रम के बाद जो सामग्री उपलब्ध हो सकी उसी के आधार पर उन्होने नामकरण किया। इसलिये लम्बे समय बाद भी जबकि ज्ञान-विज्ञान के कारण आज बहुत-सी चीजे अधिक स्पष्ट हो गई है कही कोई सार्थक चुनौती नही दी जा सकी है। यह शुक्ल जी की अपनी आलोचना दृष्टि का परिणाम है।

आदिकाल के नामकरण को लेकर बाद मे अनेक विद्वानो ने अपने-अपने अनुसार अलग-अलग नामकरण किये। सिद्ध सामत काल, बीज

1 आचार्य रामचद्र शुक्ल—प्रथम सस्करण का वक्तव्य, स 1986, पृ 2
2 आचार्य रामचद्र शुक्ल—प्रथम सस्करण का वक्तव्य, स. 1986, पृ 2

वपरण काल, चारण काल, प्रारभिक काल एव आदि काल इत्यादि नामो से शुक्ल जी के वीरगाथा काल नामकरण को नकारा गया। इस नकारवाद मे ही किसी भी देश, साहित्य एव जन-जीवन की प्रगति का मत्र छिपा रहता है। इसलिये यह आवश्यक है लेकिन इसे शुक्ल जी की कमी बताना गलत है। उस समय उपलब्ध बारह पुस्तको मे से जब आठ पुस्तको मे वीर रस की प्रधानता हो तब कैसे शुक्ल जी उसे नकार देते। आज, जबकि निरतर विलुप्त सामग्री प्रकाश मे आ रही है तब उसके नाम मे परिवर्तन करना हमारी स्वस्थ दृष्टि एव ईमानदार साहित्यिक लगाव का ही परिणाम है। उन बारह पुस्तको की प्रामाणिकता तथा ऐतिहासिकता का जहाँ तक प्रश्न है उनकी परख की कमी मे शुक्ल जी की अपनी समयगत सीमाये निहित है, जिसे कोई भी ईमानदार आलोचक नकार नही सकता। और ऐसी स्थिति मे आचार्य शुक्ल का महत्व भी कम नही हो जाता। अपनी सीमाओ मे आबद्ध शुक्ल जी कहते है—"साराश यह कि जिस समय के हमारे हिन्दी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लडाई-भिडाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था।"[1]

कबीर के मूल्याकन को लेकर आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धातो पर प्रश्न-चिह्न लगाये गये है और इसे उनकी दृष्टि का दोष माना गया है। कबीर दो अतिवादो के बीच हैं—पहला, शुक्ल जी कबीर को कटकारवाद के कारण तत्कालीन परिस्थितियो मे उनके महत्व को कम करके आकते है और दूसरे आचार्य हजारो प्रसाद द्विवेदी है जो कबीर को पहला मानववादी कवि बताते है। शुक्ल जी कबीर के फटकारवाद मे सामाजिक हित नही देखते और द्विवेदी जी, उन्हे प्रासगिक ही नही आवश्यक करार देते है। जैसा कि हम पहले कह चुके है, शुक्ल जी की कसौटी मानव समुदाय है। जो कवि मानव जीवन की छोटी से छोटी समस्या को उठाता है और उसके समाधान की खोज करता है वह शुक्ल जी को प्रिय है, उसकी तारीफ करते वे नही अघाते और जिसे जन-जीवन के सुख-दु ख मे कुछ लेना-देना नही उसको वे पानी पी-पीकर कोसते है। अपनी इसी सामाजिक कसौटी पर वे कबीर और जायसी को परखते हुये कहते हैं—"कबीर ने अपनी झाड-फटकार के द्वारा हिन्दू और मुसलमानो

---

1 आचार्य रामचद्र शुक्ल—प्रथम सस्करण का वक्तव्य, स 1986, पृ 22

का कट्टरपन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतम चिढाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नही। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है, वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन मे जिस हृदय साम्य का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है, उसकी अभिव्यजना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियो ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुये उन सामान्य जीवन दशाओ को सामने रखा, जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पडता है। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।"[1] कबीर जैसा फक्कड सत जिस अक्खडवानी मे समझाता है शुक्ल जी का वैष्णव मन इसे स्वीकार नही करता और जायसी हमारी प्रेम कहानियो को आध्यात्मिक रग देकर प्रस्तुत करते है, तब शुक्ल जी वाह-वाह कह उठते है। कबीर की झाड फटकार मे किसी प्रकार की द्वेष भावना नही है एक सीधे-सादे सत की मन स्थिति है। शुक्ल जी जिसे चिढ कहते हैं, वह तब उत्पन्न होती है, जब एक पक्ष से ही कहा जाये। कबीर तो दोनो से ही कहते है। रियायत की कही कोई गुजाइश नही है। हिन्दू हो या मुसलमान जिसे बुरा देखते हैं, फटकार लगाते है। इसमे चिढने वाली बात कहाँ है। इसी वक्तव्य मे शुक्ल जी का दूसरा आरोप है कि कबीर ने मात्र भिन्न प्रतीत होती परोक्ष सत्ता का आभास कराया, प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य प्रस्तुत नही किया। असल मे, शुक्ल जी की चिढ कबीर के झाड-फटकार से है वरना प्रत्यक्ष जीवन की एकता का जो दृश्य कबीर ने प्रस्तुत किया है वह जायसी से कम नही है। हिन्दू-मुसलमान जिस भक्ति-भाव से कबीर के आश्रम मे जाते थे, उनके उपदेश सुनते थे और अत मे उनके शव को प्राप्त करने की जो होड थी वह क्या फटकार-वाद से उत्पन्न हो सकती थी? यदि कबीर दोनो को एक करने की बात नही कहते तो यह जो अपार श्रद्धा है, वह हो ही नही सकती थी। कबीर द्वारा प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य उत्पन्न करने की क्षमता का इससे बडा प्रमाण क्या हो सकता है कि तब से लेकर अब तक कबीर के मानने वाले अधिक हैं। उनकी सखियाँ उत्तर भारत की जन-कठहार

---

1 आचार्य रामचद्र शुक्ल—प्रथम सस्करण का वक्तव्य, स 1986, पृ 71

हैं। तुलसी अपने भक्ति-भाव के बल पर लोकप्रिय है तो कबीर अपने बल पर। यह कहना गलत है कि कबीर की भाषा चिढ़ाने वाली है। कबीर की पैठ प्रत्यक्ष जीवन में अधिक है, उन्होने उसे अदर तक झकझोरा है। फलतः कबीर पाठ्यक्रमो के साथ-साथ लोक जीवन में भी गुने-सराहे जाते हैं और जायसी आज भी पाठ्यक्रमो की ही शोभा बढा रहे हैं, लोक-जीवन के लिये वे एकदम अपरिचित हैं।

अंतिम विवाद शुक्ल जी की छायावाद सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर है। शुक्ल जी छायावाद के विरोध में भी प्रत्यक्ष जगत का न होना ही मानते है। यह तो तय है कि जहाँ कविता की बात आती है उसमें वे जन-जीवन की धड़कन पहले देखते हैं और यदि वह नही है तो उसे निरस्त करने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नही होता चाहे कविता शिल्प के आधार पर कितनी ही परिपक्व क्यों न हो। छायावाद के मूल्याकन में वे लिखते हैं—"कवि कल्पना को प्रत्यक्ष जगत से अलग एक स्मरणीय स्वप्न घोपित किया जाने लगा और कवि सौन्दर्य भावना के मद मे झूमने वाला एक लोकातीत जीव। कला और काव्य की प्रेरणा का सम्बन्ध स्वप्न और काम-वासना से बताने वाला मत भी इधर-उधर उद्धृत हुआ। पर छायावाद और कलावाद के सहसा आ धमकने से वर्तमान काव्य का बहुत-सा अंश एक बंधी हुई लीक के भीतर सिमट गया, नाना अर्थभूमियों पर न जा पाया, यह अवश्य कहा जायेगा।"[1]

उपर्युक्त मूल्याकन के लिये जिस प्रकार के तथ्य शुक्ल जी ने दिये हैं उन्हे नकारा नही जा सकता। यह बात दूसरी है कि वे छायावाद को समग्रता में नही देख सके। आगे चलकर "छायावादी कविता" की प्रवृत्तियों को और स्पष्ट करते हुये अपनी नाराजगी का कारण बताते हैं—"छायावाद नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मान कर चले। शैली की इन विशेषताओ की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही।

1. आचार्य रामचद्र शुक्ल—प्रथम सस्करण का वक्तव्य, स. 1986, पृ. 445

विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रणयोन्मुख काव्य क्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अति चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्‌गारों तक ही काव्य की गतिविधि प्रायः बंध गई। हृततंत्री की झंकार नीरव सदेश, अभिसार, अनत प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाँव आना, आँख मिचौनी, मद में झूमना, विभोर होना इत्यादि के साथ-साथ शराब, प्याला, साकी आदि सूफी कवियो के पुराने सामान भी इकट्ठे किये गये, कुछ हेरफेर के साथ वही बंधी पदावली, वेदना का वही प्रकाड प्रदर्शन कुछ विश्रृंखलता के साथ प्रायः सब कविताओ मे मिलने लगा।"[1]

इस प्रकार की रहस्यात्मकता के शुक्ल जी विरोधी हैं। कविता के साथ इस प्रकार ऐयाशी उन्हे नापसंद है। अलौकिक के प्रति जो प्रेम-निवेदन छायावादी कवियो ने किया है उसको शुक्ल जी गलत ही नही भारतीय परम्परा के विरुद्ध भी मानते है—"क्या वाल्मीकि से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी कवि ऐसा बताया जा सकता है जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम बनाया हो और उसके प्रति कामुकता के शब्दों में प्रेम व्यजना की हो।"[2] ऐतिहासिक सदर्भो के माध्यम से उन्होंने अपने मत की पुष्टि की है। असल मे, यह शुक्ल जी की कमजोरी थी कि वे छायावाद को रहस्यवाद समझ बैठे। इसलिये सारा आक्रोश उबल पड़ा। रहस्यवाद के मूल मे जो जीवन-जगत से कटने की प्रवृत्ति है शुक्ल जी उसके घोर विरोधी है।

पत और निराला के बदलते तेवरों की वे प्रशंसा करते हैं। निराला की "जुही की कली" और "शैफाली" जैसे मांसल सौदर्य वाली कविता एव "मै और तुम" जैसी आध्यात्मिक दर्शन की कविता का वे विरोध करते हैं, वही आगे चलकर "इलाहाबाद के पथ पर" धूप मे पत्थर तोड़ती, श्रम सीकर बहाती श्रमिका के प्रति उमड़ी सवेदनाओं और भिखारी के प्रति उमड़े भाव प्रवाह की वे प्रशंसा करते हैं। वे कवितायें उनके लोक ग्राही मन को जीत लेती हैं—"बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा निराला जी मे है। अज्ञात प्रिय की ओर इशारा करने के अतिरिक्त

---

1. आचार्य रामचद्र शुक्ल—प्रथम सस्करण का वक्तव्य, स 1986, पृ. 447
2. साक्षात्कार, शुक्ल विशेषाक, 1984, पृ 106

उन्होंने जगत के अनेक प्रस्तुत रूपों और व्यापारों को भी अपनी सरल भावनाओं के रंग में देखा है।"[1] ऐसा ही परिवर्तन जब पंत जी की कविताओं में गांधीवाद और समाजवाद के माध्यम से नजर आता है तब वे उनकी तारीफ करते है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जिस तरह से छायावादी कवि—पंत और निराला—छायावाद से मुक्त हो कर यथार्थवादी हो रहे थे उसमें शुक्ल जी को अपनी मान्यता की सफलता दिखाई पड़ रही थी। यही कारण है कि वे पंत और निराला के बदलते तेवरों का गर्मजोशी के साथ स्वागत करते है। इससे यह भी स्पष्ट है कि शुक्ल जी कवियों को लेकर व्यक्तिगत राग द्वेष नही पालते, जैसा आज के छुटभैये आलोचक कर रहे हैं बल्कि उनके सामने रचना प्रमुख थी। रचना का ईमानदार मूल्यांकन ही उनका उद्देश्य था।

ऐतिहासिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में हिंदी-साहित्य के इतिहास को देखने का पहला प्रयास शुक्ल जी ने किया था। यह उनका अनुपम योगदान है, जिसे कितने भी मतभेदों के बावजूद नकारा नही जा सकता। शुक्ल जी हिंदी साहित्य के मूर्धन्य आलोचक हैं, उनकी परम्परा विभिन्न मोड़ों और अवरोधों को पारकर निरतर विकसित हो रही है। यह उनकी स्वस्थ आलोचना दृष्टि का ही परिणाम है।

□□

---

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 485